

# समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

## प्रबंध संपादिका :

डॉ. रोहिणी शिवबालन

## संपादक-प्रकाशक :

डॉ. देवेश ठाकुर

## संयुक्त संपादक :

डॉ. सतीश पांडेय

## उप संपादक :

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

मनोज दुबे

मनोज सिंह

## संपादकीय-संपर्क :

बी-23, हिमालय सोसाइटी,

असल्फा, घाटकोपर (पश्चिम)

मुंबई-400 084

टेलिफोन : 25161446

## विशेष :

‘समीचीन’ में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्ति विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

## इस अंक में

- अपने तई (संपादकीय) : पृष्ठ 2;
- समकालीन महिला कथा-साहित्य में पुरुष (अरुणा दुबलिशा), पृष्ठ 8; □ साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध आदिवासी अस्मिता की समरगाथा : हुल पहाड़िया (डॉ. सतीश पांडेय) : पृष्ठ 14; □ समकालीन कविताओं में आदिवासी-विमर्श (डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट), पृष्ठ 21; □ अरुण कमल की काव्य-संवेदना (डॉ. बालकवि सुरंजे), पृष्ठ 27; □ इतने बदनाम हुए हम : नीरज (ब्रजकिशोर झा), पृष्ठ 30; □ बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाट्यालोचन (डॉ. लवकुमार लवलीन), पृष्ठ 36; □ एक कहानी अलग-सी (सुशान्त सुप्रिय), पृष्ठ 45; □ हत्भाग्य (भूमिपुत्र), पृष्ठ 50; □ मन के स्तर पर स्वीकृति ही वास्तविक अनुकूलन है (सीताराम गुप्ता), पृष्ठ 56; □ कविताएँ और गज़लें (अरुणा दुबलिशा, स्वर्ण कौर सैनी, डॉ. आशा पाण्डेय, देवेन्द्र कुमार मिश्र, सुशान्त सुप्रिय, राजेंद्र उपाध्याय, नरेश हमिल पुरकर), पृष्ठ 69।

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : देवेश ठाकुर ने मुंबई हिंदी विद्यापीठ प्रिंटिंग प्रेस, हिंदी विद्यापीठ, कीर भागोजी मार्ग, मुंबई-400016 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

संपादक : देवेश ठाकुर

वर्ष-7, अंक-11,

पूर्णांक-50

अपने तर्क

## साहित्य : रचना-प्रक्रिया और अध्ययन विधि

साहित्य-रचना का सीधा संबंध लेखक की मानसिकता और उसके परिवेश से होता है। मैं इस बात को बहुत बड़ा पाखण्ड मानता हूँ कि लेखक के व्यक्तित्व को उसकी रचनाओं से अलग करके देखा जाए। वास्तविकता यह है कि लेखक अपनी रचना में अपनी मानसिकता, अपने सोच और अपनी दृष्टि को ही रूपायित करता है। समाज के बीच रहते हुए वह भी कतिपय विशिष्ट अनुभवों से गुजरता है। उन अनुभवों को वह अपनी दृष्टि के अनुसार अपनी रचना में प्रस्तुत करता है और उस प्रस्तुति के माध्यम से वह पाठकों के सम्मुख अपनी मानसिकता के अनुकूल निष्कर्ष रखता है। उसकी मानसिकता और उसकी दृष्टि मूलतः अपने पारिवारिक-सामाजिक संस्कार और परिवेश, अपने व्यक्तिगत अनुभव क्रम तथा अध्ययन-अनुशीलन के प्रकार से ही प्रेरित और अनुशासित होती है। और इन सबके समन्वित सहयोग से जो कृति रची जाती है, उसमें आवश्यक रूप से लेखक का व्यक्तित्व उसकी संपूर्ण मानसिकता के साथ समाहित रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि रचना जहाँ एक ओर समाज के यथार्थ की अभिव्यक्ति है, वही दूसरी ओर लेखक के व्यक्तित्व की प्रतिबिम्ब भी है।

लेकिन लेखक की रचना-प्रक्रिया में केवल इतना ही नहीं होता। प्रत्येक कृति की रचना में लेखकीय संवेदना और कल्पना शक्ति का बहुल योग होता है। लेखक और सामान्य पाठक में इसी संवेदन की गहराई और कल्पना के विस्तार को लेकर अंतर किया जा सकता है। जहाँ यथार्थ जीवन में सामान्य व्यक्ति किसी विशिष्ट घटना से भी बहुत प्रभावित नहीं हो पाता था मात्र थोड़े समय के लिए उसके प्रभाव में आकर, उपरांत, उसे विस्मृत कर देता है, वहीं लेखक अपनी विशिष्ट संवेदना द्वारा सामान्य दिखने वाली घटना को भी महत्वपूर्ण मानकर उस पर आधारित एक मर्मस्पर्शी रचना दे सकता है। बिना संवेदना का स्पर्श पाये कभी कोई रचना उत्कृष्ट हो ही नहीं सकती। और न उसमें पाठक को प्रभावित करने की क्षमता ही आ सकती है। एक पूर्ण और प्रभावी रचना देने के लिए,

इसी कारण, लेखक में गहरी संवेदना और तलस्पर्शी दृष्टि का होना अनिवार्य होता है-साथ ही, उसमें कल्पना-शक्ति के ऐसे अक्षय स्रोत का होना भी आवश्यक है जो उसके कथ्य को

वस्तुनिष्ठ, भाव-प्रवण और विश्वसनीय बना सके। तब कहीं जाकर रचना सही अर्थों में पठनीय और उद्देश्यपूर्ण बनती है।

रचना का उद्देश्यपूर्ण होना आवश्यक है। यह उद्देश्यपरकता आवश्यक रूप से अपने समकालीन जीवन और युग-बोध के अनुकूल होनी चाहिए। तभी रचना और रचनाकार की सार्थकता प्रतिष्ठित हो पाती है। यदि किसी समाज का अधिकांश व्यवस्था और प्रशासन की ओर से निरन्तर शोषित हो रहा हो, यदि किसी समाज में जनतंत्र के नाम पर जंगलतंत्र की तूती बोल रही हो, यदि वहाँ की आधी से अधिक आबादी भूख, अभाव और बीमारी से ग्रस्त हो और ऐसी स्थिति में यदि रचनाकार उन्हें प्रणय और रोमांस के चुटकुले देकर बहलाने की कोशिश में लगे अथवा रहस्य और रोमांच की मनोवैज्ञानिक और कुंठाग्रस्त गलियों में उन्हें भटकाने की साजिश में शामिल हो तो मैं समझता हूँ कि वह अपनी रचनाधर्मिता का दुरुपयोग तो कर ही रहा है, अपने युग और समाज के प्रति भी गहरी का सबूत दे रहा है। ऐसे लेखन को साहित्य के अंतर्गत लेने का कोई औचित्य नहीं है। साहित्यिक रचना करते समय कथ्य और उद्देश्यपरकता के प्रति जागरूक होना सही लेखन की आवश्यक शर्त मानी जानी चाहिए।

इस प्रकार घटना बिंदु से लेकर उद्देश्यपरकता तक की यात्रा रचना-प्रक्रिया के अंतर्गत आती है। वैसे अलग-अलग रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया अलग-अलग हो सकती है। लेकिन मोटे तौर पर रचना-प्रक्रिया के पड़ाव क्रमशः इस प्रकार गिने जा सकते हैं –

(1) घटना-बिंदु, (2) विधा के अनुरूप घटना-बिंदु का कल्पना विस्तार, (3) उस विस्तार में प्रासंगिक उद्देश्य का स्थापन, (4) योग्य भाषा-शिल्प में इस संपूर्ण आयोजन की अभिव्यक्ति।

अब इन बिंदुओं को हम जरा विस्तार में समझ लें।

(1) घटना – साहित्य की प्रत्येक विधा का आधार कोई घटना होती है। घटना का प्रयोग यहाँ अपेक्षाकृत विस्तृत अर्थ में लिया जाना चाहिए। घटना भौतिक ही नहीं, मानसिक भी हो सकती है और इसीलिए, रचनाकार के अतिरिक्त अन्य जनों के लिए अदृश्य भी। विशिष्ट भौतिक घटना, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, अपने में रचना का एक बिंदु लिए होती है। यह दूसरी बात है कि रचनाधर्मिता के संदर्भ में उसका उपयोग न किया जाए। क्योंकि इसको उपयोग में लाने के लिए सही रचनाकार, सही स्थिति और सही दृष्टि की अपेक्षा होती है और उस संवेदन की भी जो किसी भी घटना को रचना का रूप देने के लिए उर्वर बनाती है। हम यहाँ पर भौतिक घटना का एक उदाहरण लें। मान लें कि हम एक बहुत बढ़िया प्याली में चाय पी रहे हैं। अचानक प्याली हमारे हाथ से फिसल पड़ती है और फर्श पर गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। चाय पीते समय इस तरह की घटना का होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। इसलिए एक सामान्य जन के लिए इस प्याली के टूटने का इसके अलावा कोई खास महत्त्व नहीं है कि इससे थोड़े पैसों का नुकसान हो गया या चाय पीने का मजा किरकिरा हो गया। लेकिन एक संवेदनशील रचनाकार प्याली के टूटने के सूत्र को पकड़कर व्यक्ति जीवन के संदर्भ में

किसी बड़ी रचना का सृजन भी कर सकता है। वह सोच सकता है कि कभी-कभी व्यक्ति जीवन भी इसी प्याली की भाँति अप्रत्याशित रूप से बीच में ही टुकड़े-टुकड़े हो जाया करता है। और जिस तरह से एक प्याली के टूटने से पूरे 'टी सैट' की महत्ता ही समाप्त हो जाती है उसी प्रकार अनेक विषय पर एक व्यक्ति के गत हो जाने से पूरी पारिवारिक अथवा सामाजिक व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। अथवा वह यह भी सोच सकता है कि व्यक्ति जीवन में कई बार ऐसा होता है कि वर्षों का संजोया सपना समय की एक अप्रत्याशित पहचान के कारण आकस्मिक रूप से छिन्न-भिन्न हो जाया करता है... प्याली के टूटने की छोटी-सी घटना रचनाकार को जीवन के अनेक-अनेक आयामों और अनेक-अनेक नतीजों की ओर इंगित कर सकती है... वह एक सामान्य दिखनेवाली घटना को लेकर कितनी दूर तक, कितने गहरे तक जा सकता है, यह सब उसकी संवेदन शक्ति, उसके अपने परिवेश के अनुभव और संस्कार तथा अध्ययन-अनुशीलन की तलस्पर्शी दृष्टि पर निर्भर करता है। प्याली की टूटन उसकी रचना के लिए घटना-बिंदु का काम कर सकती है। इस सामान्य सी टूटन से उसे जीवन की टूटन की स्थिति का एक सूत्र प्राप्त होता है। यही घटना बिंदु है जहाँ से रचनाकार की यात्रा आरंभ होती है।

लेकिन घटना भौतिक रूप में ही घटित हो, यह आवश्यक नहीं है। अनेक अवसरों पर रचनाकार किसी विशिष्ट क्षण में उत्पन्न भाव या विचार को ही अपनी रचना का मूल बिंदु बना लेता है और फिर कल्पना-विस्तार से रचना का सृजन करता है। लेकिन यह तय है कि चाहे कोई घटना हो अथवा भाव-विचार बिंदु-रचना के रूप में उसका विकास रचनाकार की मानसिकता और दृष्टि के अनुसार ही होगा। रचना के मूल बिंदु की इस विकास प्रक्रिया को कल्पना-विस्तार के अंतर्गत समझा जा सकता है।

**(2) कल्पना-विस्तार** – पिछली पंक्तियों में प्याली के आकस्मिक रूप से टूट जाने का एक उदाहरण घटना-बिंदु के रूप में दिया गया है। संवेदनशील रचनाकार इससे बिंदु के विस्तार के लिए कोई कहानी गढ़ सकता है कि किस प्रकार सामान्य रूप से चल रहा जीवन यकायक दुर्घटनाग्रस्त हो गया। इस संदर्भ में वह अपने अनुभवों, अपनी कल्पना-शक्ति और अपने अध्ययन का लाभ उठा सकता है और अपनी रचना का एक प्रारूप तैयार कर सकता है। उपरांत विधागत शैली के अनुरूप वह उस रचना को विस्तार भी दे सकता है। इस तरह इस दूसरे चरण में रचना अपना आकार ग्रहण करने लगती है। रचनाकार किस सीमा तक अपनी रचना को विस्तार दे सकता है, उसमें कितना संवेदन और आकर्षण भर सकता है अथवा उसे कितना घटना-बहुल बना सकता है, उसमें कितने बाह्य और आंतरिक संघर्ष निरूपित कर सकता है – यह सब उसकी रचना-शक्ति पर निर्भर करता है और उसकी यह रचना-शक्ति उसकी अपनी अंतर्दृष्टि और संवेदन पर निर्भर होती है।

रचना के आकार ग्रहण कर लेने के पश्चात् रचनाकार उसमें अपनी दृष्टि और संस्कार के

अनुकूल एक उद्देश्य का प्रस्थापन करता है।

**(3) उद्देश्य-प्रस्थापन** – रचना की महत्ता उसके द्वारा निरूपित उद्देश्य में निहित होती है। कुछ रचनाकार और समीक्षक (भी) उद्देश्यपरकता को आवश्यक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में किसी घटना, भाव या विचार की मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति भी सृजन का उद्देश्य हो सकती है। उसमें कोई सामाजिक उद्देश्य छिपा हो, यह आवश्यक नहीं है। हम समझते हैं कि इस प्रकार की मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति किसी भी सृजन के लिए कोई बहुत गौरव की बात नहीं है। जब तक कोई रचना अपने सामाजिक परिवेश को, जिसमें वह अंकुरित हुई है, एक विशिष्ट उद्देश्य परकता के साथ व्यक्त नहीं करती, तब तक उसका बहुत ऊँचा मूल्य नहीं आँका जा सकता। सही और संवेदनशील रचनाकार इस मामले में बहुत सतर्क रहता है। लेकिन यहाँ भी उसके अपने संस्कारों और दृष्टि का योग ही अधिक होता है। हम उपर्युक्त उदाहरण को फिर लें। आकस्मिक रूप से जीवन के छिन्न हो जाने पर एक निराशावादी रचनाकार अपने पाठकों को यह दृष्टि दे सकता है कि जीवन का कोई अर्थ नहीं है, जीना और न जीना सब भाग्य का खेल है, इस पर मनुष्य का कोई वश नहीं है, हम इसलिए जीते हैं कि हम जीने के लिए अभिशप्त हैं...आदि आदि...। लेकिन एक स्वस्थ दृष्टि से संपन्न रचनाकार इसी घटना को लेकर अपनी रचना में इस स्वर का संकेत भी दे सकता है कि जीवन में इस तरह की घटनाएँ होती रहती हैं। लेकिन इससे जीवन रुकता कहाँ है। वह तो प्राण-शक्ति का एक अजस्र प्रवाह है। इस प्रकार के अवरोध उसे और भी अधिक शक्ति और संकल्पात्मकता प्रदान करते हैं और वह एक असफलता के पश्चात् दूने उत्साह से आगे की ओर बढ़ता है ...आदि आदि। साहित्य सृजन के आकलन की सही दृष्टि यही है कि रचनाकार अपने पाठकों को जीवन जीने के लिए अनुप्रेरित करे। इसलिए उसमें दृष्टि अथवा उद्देश्य का होना बहुत आवश्यक होता है। और इस उद्देश्य के निश्चित हो जाने के पश्चात् रचना का विस्तृत प्रारूप रचनाकार के सम्मुख आ जाता है। अब उसको योग्य शिल्प और भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करना भर शेष होता है।

**(4) योग्य शिल्प** – रचना पठनीय बने, इसके लिए योग्य शिल्प और भाषा का उपयोग आवश्यक है। योग्य शिल्प से हमारा आशय 'वस्तु' और विधा के अनुकूल शिल्प से है। यही बात भाषा को लेकर भी कही जा सकती है। वस्तुतः प्रथम चरण में पाठक भाषा के ही संपर्क में आता है। यदि भाषा में उसको बाँध सकने की शक्ति है, तभी वह रचना के प्रति आकर्षित हो सकता है। कभी-कभी लचर भाषा के कारण पाठक-अत्यंत महत्वपूर्ण 'वस्तु' और 'कथ्य' वाली रचना को भी पढ़ने के लिए प्रेरित नहीं होता और कभी-कभी भाषा के आकर्षण में बँधा हुआ वह अत्यंत सामान्य कथ्य वाली रचना को भी पूरा पढ़ ले जाता है। इसी प्रकार 'शिल्प' भी रचना के महत्व को बढ़ाने-घटाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। कुछ कृतियाँ अपने कथ्य के लिए नहीं, वरन् शिल्प के कारण ही महत्वपूर्ण हो जाती हैं। दरअसल ऐसी स्थिति बहुत अच्छी स्थिति नहीं है। भाषा-शिल्प का उपयोग कृति के कथ्य, उसके वातावरण और वस्तु को उभारने में हो, यही स्थिति श्रेयस्कर होती है। आखिर भाषा-शिल्प

मात्र माध्यम है, लक्ष्य नहीं। इनका प्रयोग 'वस्तु' की अभिव्यक्ति के लिए होता है। लेकिन यदि इनके द्वारा 'वस्तु' को गौण बना दिया जाता है और ये स्वयं विशिष्ट बन जाते हैं, तब हमारे विचार से रचना का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। रचना का उद्देश्य 'कथ्य' को सम्प्रेषित करना होता है, भाषा-शिल्प के आकर्षण में पाठक को भरमाना नहीं। और जहाँ भाषा की प्रमुखता के कारण 'कथ्य' की हानि होती है, वहाँ हम समझते हैं, रचनाकार अपनी समाज सम्मत रचनाधर्मिता के आदर्श का निर्वाह नहीं कर पाया है। वैसे हम मानते हैं कि भाषा और शिल्प की कलात्मकता रचना को पठनीय बनाने के लिए आवश्यक है। लेकिन उसमें एक संतुलन की स्थिति का होना आवश्यक है। आखिर हम भाषा का कौशल दिखलाने के लिए रचना नहीं कर रहे हैं, 'कथ्य' को कहने के लिए भाषा का उपयोग कर रहे हैं। कथ्य 'प्रमुख' है और उसकी अभिव्यक्ति का साधन 'भाषा' गौण। जब तक रचनाकार इस तथ्य को दृष्टि-पथ में रखता है, तब तक रचना की कोई हानि नहीं होती। लेकिन अनेक रचनाओं में हम पाते हैं कि उनमें कथ्य की अपेक्षा भाषा और शिल्प की नक्काशी अधिक हो जाती है और कथ्य दब जाता है, तब ऐसी स्थिति में ऐसी रचना को हम श्रेष्ठ रचना नहीं मान सकते। क्योंकि इस प्रकार उसके सृजन का उद्देश्य ही समाप्त हो गया होता है। इसके विपरीत जब-जब रचनाकार अपने 'कथ्य' को सम्प्रेषित करने के लिए 'वस्तु' और विधा के अनुकूल भाषा-शिल्प का संतुलित और परिष्कृत प्रयोग करता है तब-तब उसकी रचना विशिष्टता के साथ पाठक को प्रभावित करती है और यही उसके लेखन की सार्थकता है। दूसरे शब्दों में यदि भाषा रचनाकार के उद्देश्य की पूरी प्रभावात्मकता के साथ स्पष्ट रूप से रूपायित कर देती है तो हम समझते हैं, भाषा ने अपने धर्म का निर्वाह कर दिया है। अंततः भाषा-शिल्प का यही तो उद्देश्य है।

इस प्रकार भाषा-शिल्प के माध्यम से रचनाकार अपनी दृष्टि, विचार तथा उद्देश्य को एक रचना के रूप में पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है। पाठक को रचनाकार की दृष्टि और उद्देश्य को पकड़ने के लिए उस भाषा से ही गुजरना होता है जिसमें उसने अपने को व्यक्त किया है। उस रचना का शिल्प, व्यंग्य, वैचारिक आग्रह (और यदि रचना कविता है तो बिम्ब, उपमा, शब्द-चयन, प्रस्तुति आदि) तथा उद्देश्य – इन सबको वह भाषा के माध्यम से ही ग्रहण कर सकता है। पाठक के सम्मुख केवल रचना होती है – उसे रचना के माध्यम से रचनाकार के उद्देश्य तक पहुँचना होता है। यदि वह ऐसा करने में सफल हो जाता है तो हम समझते हैं कि उसकी सफलता, उसकी सफलता तो है ही, रचनाकार की सफलता भी है। क्योंकि रचना के द्वारा रचनाकार के उद्देश्य को सही तरीके से समझ लिया जाना यह प्रमाणित करता है कि उसने अपने कथ्य को सही विधा और सही भाषा के माध्यम से सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। दूसरे शब्दों में, रचनाकार का विधा, शिल्प और भाषा संबंधी चयन सही है। किंतु यदि ऐसा नहीं हो पाता और एक सुशिक्षित साहित्यिक मानसिकता वाला व्यक्ति ईमानदार प्रयत्न करने के बावजूद किसी रचना के भीतर तक जाने में असमर्थ रहता है अथवा वह स्पष्ट रूप से लेखक के कथ्य को ग्रहण नहीं कर पाता तो यह समझ लेना चाहिए कि रचनाकार में कही, किसी बिंदु

पर कोई कमी रह गयी है जिसके कारण उसकी बात पाठक तक सम्प्रेषित नहीं हो पाती।

और यदि कथ्य रचना के माध्यम से सम्प्रेषित होता है तो उसकी सहायता से हम रचनाकार की दृष्टि और मानसिकता से अवगत हो सकते हैं। रचना के अध्ययन की प्रक्रिया पाठक को रचनाकार के निकट उसी प्रकार ले जाती है जिस प्रकार रचना की संपूर्ण प्रक्रिया अन्ततः भाषा के माध्यम से आकार ग्रहण करके रचनाकार को पाठक के समक्ष उपस्थित करती है। पाठक और रचनाकार में सदैव एक संवाद की स्थिति बनी होती है। जहाँ यह संवाद टूटता है, वहाँ इसका दोष विज्ञ पाठक का न होकर रचनाकार का होता है। विज्ञ पाठक रचनाकार से कम संवेदनशील नहीं होता। उसमें और पाठक में यही अंतर होता है कि जहाँ रचनाकार के पास अभिव्यक्ति के माध्यम सुलभ होते हैं, वहाँ पाठक के पास इसका अभाव होता है। लेकिन संवेदना के स्तर पर वह रचनाकार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इसलिए यदि रचनाकार की कोई कृति पाठक को सम्प्रेषित नहीं हो पाती तो इसमें दोष रचनाकार का होता है, पाठक का नहीं। सही रचना-प्रक्रिया और उसकी अध्ययन विधि के लिए हमारे लेखे यही योग्य और वस्तुपरक दृष्टि है।

□ □

- देवेश ठाकुर

● डॉ. अरुणा दुबलिश

### समकालीन महिला कथा-साहित्य में पुरुष

प्राचीन काल से ही प्रायः सभी समाजों में पुरुष-प्रधानता अथवा पितृसत्तात्मकता ही प्रमुख रही है। लगभग सभी प्राचीन समाजों की तरह हमारे देश में औपनिषदिक समाज भी संतानोत्पत्ति को महत्व देता है। इसमें पुत्रों को अधिक महत्ता दी गई है। इसके कतिपय कारण थे-संसार में तीन लोक हैं – मनुष्य लोक, पितृलोक व देवलोक। इस मनुष्य लोक को पुत्र से ही जीता जाता है, कर्म से नहीं। (बृहदारण्यकोपनिषद् १/५/१६) तत्कालीन समाज में पुत्र को मुक्ति दिलाने के एक साधन के रूप में देखा गया है। 'पुत्र' का अर्थ है 'पूरा करना', 'त्र' का अर्थ है (न किए से) पिता की रक्षा करना। (बृह. १/५/१७) एक पिता पुत्र के जन्म पर प्रार्थना करता है कि –

अस्मिन्सहस्रं पुण्या समेधमानः स्वे गृहे।

अस्योपसन्धां मा च्छैत्सीत् प्रजया चप शुभिश्च॥ (बृह. ६/४/२४)

अर्थात् मैं अपने घर में सहस्रों वर्षों तक अपने (पुत्र रूप) नाम द्वारा समृद्ध होता हुआ पुष्टि प्राप्त करूँ। मध्यकाल में पुरुष की मृत्यु पर उसकी पत्नी का सती होना भी पुरुष प्रधान संस्कृति का प्रतीक है। पुरुष के बिना स्त्री का कोई अस्तित्व नहीं – यह प्रथा यही सिद्ध करती थी।

पुरुष शब्द का अर्थ-

पुरुष का अर्थ है – नर, मनुष्य, मर्द। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है – पुरि देहे शोते-शी+ड+पुर+कुषन्। किसी पीढ़ी का प्रतिनिधि या सदस्य (वामन शिवराम आपटे, संस्कृत हिंदी कोश पृ. ६२४) नारी की सार्थकता पुरुष से है – नारी सार्थतः पुमान् (मृच्छकटिकम् ३/२७/ मनुस्मृति १/३२, ७) सांख्य दर्शन में पुरुष का अर्थ आत्मा माना गया है – “यह न उत्पन्न होता है, न उत्पादक है, यह निष्क्रिय है तथा प्रकृति का दर्शक है।” (सांख्य दर्शन, तु. कु. २/१३)

ऋग्वेद में उसके दसवें मण्डल का ९० वां सूक्त पुरुष सूक्त कहलाता है और यह बहुत ही पावन माना-जाता है। व्याकरण में भी प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष (सिद्धांत कौमुदी) के रूप में 'पुरुष' शब्द को महत्त्व मिला है।

महाकवि एवं नाटककार जयशंकर प्रसाद ने पुरुष को कठोरता और क्रूरता का उदाहरण

माना है। जो कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय भी है। (अजातशत्रु, पृ. ११९)

समकालीन उपन्यास-साहित्य में पुरुष के बहुआयामी रूपों का चित्रांकन हुआ है। यहाँ पुरुष केवल नारी-नियन्ता, शोषक और दमनकर्ता नहीं है, वरन् वह सहधर्मा, सहायक, पुरस्कृता और नारी को उन्नति के पथ पर ले जाने वाले के रूप में भी उपस्थित हुआ है। पुरुष की उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता। समकालीन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में पुरुष के अस्तित्व उसके स्वभाव और व्यवहार का भी चित्रण किया है।

मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास में 'रनजीत' परंपरागत पति की भूमिका में उपस्थित है तो मित्रवत् उसकी पीड़ा को समझने वाला सहृदय व्यक्ति भी है। 'अल्मा कबूतरी' का धीरज अपने ऊपर अनेक आफतों को न्योता देकर अल्मा की रक्षा करता है। 'पचपन खंबे लाल दीवारें' (उषा प्रियंवदा) की सुषमा नील के बिना अधूरी है और स्वयं को उसकी प्रतिच्छवि मानती है। 'एक जमीन अपनी' (चित्रा मुद्गल) की मीता, 'भाई' (गीतांजलि श्री) की सुनैना, 'ठीकरे की मंगनी' (नासिरा शर्मा) की महरूख, एक पत्नी के नोट्स (ममता कालिया) की कविता, 'छिन्नमस्ता' (प्रभा खेतान) की प्रिया व्यवस्था में ढली हुई ऐसी स्त्रियाँ हैं जो अपने को आधुनिक मानती हुई भी पुरुष के सान्निध्य से अपने को विलग नहीं कर सकतीं।

'डूब' उपन्यास (वीरेंद्र जैन) का नायक माते अर्थात् इमरत सिंह एक ऐसे पुरुष पात्र का प्रतिनिधित्व करता है जो गाँव की आत्मा है, मानवता का चरम उदाहरण है तो 'पार' उपन्यास में रामदुलारे भी नई ज्योति का प्रतीक बन गया है। गाँव के अट्ट साव भी इसी तरह के पात्र हैं जो पुरुष-विमर्श का उदाहरण बन गए हैं। दूसरी ओर उसी गाँव के हीरा साव, मोती साव और कैलाश महाराज पुरुष के नाम पर कलंक हैं।

'विमर्श' शब्द, विचार-विवेचन परीक्षण समीक्षा, गुणदोष की मीमांसा (डेलिबेरेशन), परामर्श, तर्क, ज्ञान और चरम बिंदु (कोशगत अर्थ) को परिभाषित करता है। प्रतिरोध की पुख्ता जमीन पर खड़ा प्रखर और विद्रोही पुरुष समाज के खोखले रीति – रिवाजों, नियमों के प्रति विरोधी रुख अपनाकर नये समाज के निर्माण की कोशिश करता है, किंतु समाज के शक्तिशाली नियम उसे उतनी स्वतंत्रता नहीं देते।

'बेघर' (ममता कालिया) उपन्यास में परमजीत अपनी प्रेमिका से विवाह नहीं कर पाता। परिवार के दबाव में वह एक फूहड़ व मानसिकता स्तर में अपने से हीन लड़की से विवाह कर लेता है और उससे 'एडजस्ट' न कर पाने की स्थिति में अजनबीपन और खालीपन का शिकार हो हृदयाघात से मृत्यु को प्राप्त होता है।

'नरक-दर-नरक' (ममता कालिया) में उपन्यास का नायक जुगन प्रेम विवाह करता है। वह सिद्धांतवादी है। कॉलेज की गलत नीतियों का विरोध करने पर उसे नौकरी से निकाल

दिया जाता है। वह एक प्रेस चलाता है। चेहलुम के दिन उसके छोटे से पुत्र से जुलूस पर पानी गिर जाता है तो जुलूस में शामिल लोग उसके प्रेस व अन्य सामान को जला देते हैं। जगन भी घायल हो जाता है, किंतु उसे लगता है कि यह नुकसान उसकी पत्नी और बच्चों के समक्ष कुछ भी नहीं है।

इसी प्रकार संबंधों की मनोवैज्ञानिक उलझनों से अनवरत उलझता हुआ पुरुष अंत में अविश्वास से विश्वास, अनास्था से आस्था और नास्तिकता से आस्तिकता की प्रक्रिया से होता हुआ अपने गन्तव्य की ओर पहुँचने का प्रयास करता है।

अक्सर पुरुष व स्त्री की मित्रता सहज धरातल पर नहीं रह पाती। जब तक मित्रता में परस्पर सहयोग, सद्भावना, विश्वास, संवेदना व सहानुभूति का आदान-प्रदान रहता है, तभी तक पुरुष-स्त्री की मित्रता रचनात्मक व स्वाभाविक रहती है किंतु अधिकांशतः यह मित्रता, मित्रता तक सीमित न रहकर देह तक पहुँच जाती है। पुरुष और स्त्री दोनों ही ऐसे संबंधों को स्वेच्छा से स्वीकार कर रहे हैं। निरुपमा सेवती के उपन्यास 'बँटता हुआ आदमी' में शरद सुनंदा और अनिता दोनों का मित्र है। शरद के स्पर्श करने पर अनिता कहती है, "और तुम्हारे छूने से डरूँगी क्यों? और न ही अपने को सती-सावित्री दिखाने का ही मुझे शौक है।" (पृ. ६२)

अपने प्रेम-संबंधों को मित्रता का नाम देकर बिना विवाह के ही पति-पत्नी के समान जीवन व्यतीत करने को स्त्री-पुरुष दोनों ही गलत नहीं समझते। आज इसे 'लिव इन रिलेशनशिप' कहा जाता है। चित्रा मुद्गल की कहानी 'शून्य' की बेला राकेश की पत्नी नहीं है। राकेश विवाह से पूर्व बेला से प्रेम करता है, परंतु माँ के दबाव में उसे सरला से विवाह करना पड़ता है। विवाह के बाद भी राकेश बेला से जुड़ा रहता है अपने प्रोफेसर पति से तंग आकर बेला उससे तलाक लेकर राकेश के साथ रहने लगती है। पति-पत्नी के समान रहते हुए भी राकेश अपने संबंध को दोस्ती का नाम देते हुए पत्नी से कहता है, "मैं एक दोस्त होने की हद तक उसकी मानसिक पीड़ा का भागीदार बनूँगा और उस हद के भीतर तुम्हारा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं होगा।" पृ. २१२

कई बार यह मित्रता निस्वार्थ होने पर भी इसमें काम-भावना प्रवेश करने लगती है जिसकी पहल प्रायः पुरुष की ओर से ही होती है। "मानवीय संबंधों में चाहे कितनी ही ठोस रेखाओं वाले खांचे खींचे जाएँ, कभी-कभी वे विरल होकर घुलने लगते हैं। जब व्यक्ति विवेक का आश्रय छोड़कर भावातिरेक में बहने लगता है तो इसका परिणाम काम-संबंधों के रूप में सामने आता है।" (लवलीन, चक्रवात, हंस, अगस्त १९९६, पृ. २४)

जीवन और समाज की विसंगतियों के फलस्वरूप पुरुष को अकेलेपन, अजनबीपन, बोरियन एवं बिखराव का बोध होता है। अपने परिवेश में वह अपनों के बीच रहते हुए भी स्वयं को अकेला महसूस करता है। सभी संबंध जब औपचारिक बन जाते हैं तो उनमें मानवीय

भावनाओं का महत्त्व कम और परायेपन का अहसास अधिक होने लगता है। अपने एकरस और एकाकी जीवन से ऊबा हुआ पुरुष निराशा से उबरने के लिए घर से बाहर सहारे की तलाश में भटकता है।

बदलते जीवन-मूल्यों एवं परिवर्तित युग चेतना ने व्यक्ति में अकेलेपन और बिखराव को बढ़ाने का कार्य किया है। विशेषरूप से यह नगरों एवं महानगरों में देखने को मिलता है। ऐसा इसलिए है कि आधुनिकता का बोध उसे आत्मीरत और आत्मकेंद्रित बना देता है। आर्थिक दबावों के परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक व पारिवारिक विसंगतियों को भी झेलना पड़ता है। "वैज्ञानिक विकास के कारण जहाँ उसे अनेक सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, वहीं उसके समक्ष अनेक आर्थिक समस्याएँ भी मुँह बाएँ खड़ी हो गई हैं। इन समस्याओं का प्रभाव निम्न एवं मध्यवर्गीय व्यक्ति पर अधिक पड़ा है। ... इसके परिणामस्वरूप जीवन में वेदना, विषाद, कुण्ठा, घुटन, अजनबीपन, अकेलापन, रोमांस एवं अपरिचय आदि मनोविकारों ने स्थान ले लिया।" (डॉ. महेश दिवाकर, हिंदी नई कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ. २५१)

भारतीय समाज परंपराओं और रूढ़ियों से बँधा है, जिसमें विवाह संस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह को धर्म से जोड़कर देखा जाता है। जीवन की सार्थकता और सफलता इसी संस्था के आधार पर टिकी है। परिवार और समाज के प्रति भूमिका भी इसी आधार से प्रारंभ होती है। बदलते संदर्भों में पुरुष की बदली हुई भूमिका के कारण सबसे अधिक प्रभाव इसी संस्था पर पड़ा है। लेकिन जब पुरुष के आकर्षण का केंद्र पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री बनने लगती है तो एक विघटनकारी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दूसरी औरत से संबंधों के कारण पुरुष अपने ही घर में अजनबी बनकर रह जाता है। पत्नी और बच्चे उसे अपनाने से इंकार कर देते हैं। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' का मंसाराम पत्नी और बच्चों के साथ-साथ कबूतरा जाति की कदमबाई से भी जुड़ा हुआ है। मंसाराम की वास्तविकता से परिचित होने के पश्चात् पत्नी और पुत्र उसका विरोध करते हैं। अपने अनैतिक संबंधों के कारण वह संपूर्ण संपत्ति का मालिक होते हुए भी सभी की उपेक्षा पाता है। पत्नी उसे नाम का पति समझती है जबकि पुत्र पिता को सम्मान देने के स्थान पर उसके साथ मारपीट करता है-"जोधा ने झटपटकर पिता की गर्दन कस ली। वे गों गों करते बकरे की तरह इधर-उधर हिलने लगे और पूरी ताकत से जोधा के हाथ को मसलने लगे। देखते-देखते दोनों भिड़ गए।" (पृ. १३८)

जहाँ आज सामाजिक ढाँचा बिगड़ा दिखाई देता है, वहीं व्यवस्था की दृष्टि से राजनैतिक-प्रशासनिक ढाँचा भी बारूद के ढेर पर खड़ा दिखाई देता है। प्रशासन के उच्च अधिकारी अपने साथ कार्यरत कर्मचारियों का शोषण करते हैं। प्रशासनिक अधिकारी के रूप में पुरुष किस प्रकार नारी का मानसिक व शारीरिक शोषण करता है यह वीरेंद्र सक्सेना के उपन्यास "खोजा तिन पाइयाँ" में वास्तविक रूप में प्रस्तुत हुआ है।

परिवार को चलाने के लिए स्त्री की विशाल हृदयता, प्रौढ़ता अनिवार्य है, किंतु कई बार

पुरुष ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है कि नारी को बदलना पड़ता है और नारी का यही बदलाव उसके दाम्पत्य जीवन में कड़वाहट व तनाव पैदा करता है और परिवार विघटन की ओर चला जाता है। 'शाल्मली' (नासिरा शर्मा) उपन्यास में शाल्मली का विवाह नरेश से होता है। मगर जब शाल्मली की नौकरी लग जाती है तो नरेश हीन भावना का शिकार हो जाता है। वह हर प्रकार से शाल्मली पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता है। घर के छोटे-मोटे कार्यों में भी आपस में बहस होने लगती है। शाल्मली द्वारा घर के कार्यों में थोड़ी सहायता माँगे जाने पर नरेश चिल्लाकर बोलता है, "घर औरत का होता है वह जाने। कमाना मर्द का काम है, वह मैं करता हूँ। अपने ऑफिस के काम में, मैं तुम्हारी सहायता लेता हूँ क्या?" (पृ. ३३)

'पत्थरवाली गली' (नासिरा शर्मा) में भाई अपनी बहिन फरीदा पर अत्याचार करते हैं एक दिन बहिन का ज्वालामुखी फट जाता है। वह अपने भाइयों को पलटकर जवाब देती है— "आप कौन होते हैं एतराज करने वाले पैसा वसूलिये और जाइए यहाँ से। ...पठान जो सीने पर चढ़कर अपना कर्ज वसूलते हैं, आप तो उससे भी गए गुजरे हैं। सीने पर चढ़कर दूसरों का खून चूस रहे हैं।" (पृ. १६०) यह सुनते ही भाई पर जैसे खून सवार हो गया। बहन-भाई का रिश्ता तार-तार हो गया। "भाई गुस्से से दीवाने, फरीदा की पीठ तथा उसके चेहरे पर थपड़ मार रहे थे। गालियों की बौछार बारिश की झड़ी को मातकर रही थी। बड़े-बड़े गुण्डे मेरे नाम से पनाह माँगते हैं, चली है मुझसे जवान लड़ाने। गालियाँ भी ऐसी जो शायद ही कोई अपनी बहन तो दूर गैर के लिए भी इस्तेमाल नहीं करेगा।" (पृ. १६०)

'शाल्मली' उपन्यास में शाल्मली पुरुष द्वारा दिए गए तनाव के कारण माँ नहीं बनना चाहती, "पुरुष तक पहुँचना मेरा जीवन लक्ष्य नहीं था, मगर उसकी महत्ता से मुझे इंकार भी नहीं। वह औरत का पूरक होता है, उसके जीवन में रंग भरता है और फिर मेरी जैसी, जिसकी संवेदना पूर्ण रूप से मुखरित हो, वह पुरुष का साथ क्यों छोड़ेगी। मगर जब पुरुष एक मित्र, एक मनुष्य, एक जीवन-साथी की तरह न मिले तो उसमें इतना साहस है कि वह इस संबंध की महिमा से इंकार कर दे।" (पृ. १४६) इस प्रकार पुरुष एक स्वस्थ पारिवारिक जीवन का अधिष्ठा बनने के स्थान पर अपने अहं और हीन भावना के कारण उसके विघटन का कारण बनता है।

मांसाहारी दफ्तरी परिवेश में पुरुष पूँजी और भोग प्रधान समाज का प्रतीक बन जाता है रजनी पनिकर के उपन्यास 'दो लड़कियाँ' की रंजना को उसका पुरुष बाँस उन्नति पाने के मोह जाल में उलझाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। मांसाहारी दफ्तरी परिवेश वास्तव में पुरुष द्वारा अपनाया गया सामंती तरीका ही है जिसे स्वीकार कर नारी भी पुरुष की ही मदद कर रही है। कहीं यह मजबूरी है, कहीं स्वार्थ सिद्धि। कुसुम असल की कहानी 'इंतजार' की देविशा का पति उस पर दबाव बनाता है ऑफिस में तरक्की पाने के लिए "सुनो देविशा, इतने साल हो गए हैं, तुम्हें इसी दफ्तर में काम करते, उसी पद पर हो, कोई तरक्की नहीं हुई। पहले मैंनेजर से

बनती नहीं थी तुम्हारी। अब उस मनुज गोस्वामी से अच्छी खासी दोस्ती है... तुम समझती तो हो। अभी तक उसने तुम्हारी तरक्की क्यों नहीं की?" (स्पीड ब्रेकर (इन्तजार) पृ. ३५) मांसाहारी दफ्तरी परिवेश में पुरुष बाँस अपनी अधीनस्थ महिला कर्मचारियों के साथ एक सामान्य मानवीय व्यवहार नहीं कर पाता। निरुपमा सेवती का 'पतझड़ की आवाजें', प्रतिभा वर्मा की कहानी 'राख की नायिका', रजनी पनिकर के उपन्यास 'दो लड़कियाँ' व 'मोम के मोती', मन्नु भंडारी की कहानी 'स्त्री सुबोधिनी' आदि में इसी तथ्य का चित्रण है। "अहंता के चरम को समेटे रखने वाले ये पुरुष भी कितने सिरफिरे होते हैं। अपने को बचाए रखने वाली लड़कियों के पीछे भागना और उन्हें जीतना कितना बड़ा मनोरंजक खेल लगता है इन्हें। रोज – रोज प्रेमिकाएँ बदलने वाले, पत्नियों को भ्रम में रखने वाले और बिस्तर की संगनियाँ खरीदने वाले..." (निरुपमा सेवती, बद्धमुष्टि, पृ. ४८)

एक ओर पुरुष ने जहाँ परंपरागत मानसिकता का अवलंबन लेकर नारी को केवल अपनी सुविधा का साधन माना है वहीं आज भी पुरुष उस महिला को महत्त्व देता है जो उसके सामने भोली-भाली निरीह बनी रहे। साहसी ऊँचे हौसले वाली स्त्री तो केवल सम्मान प्राप्त कर पाती है।

महिला कथाकारों का दृष्टिकोण प्रायः पुरुष और नारी के संबंधों को लेकर एक तरफा ही रहा है। नारी पुरुष द्वारा शोषित है। अथवा स्वेच्छा से पुरुष से संबंध रखती भी है तो उसमें हानि नारी की ही होती है। समाज में व्याप्त दोहरी नैतिकता और सामाजिक मूल्यों में असमानता का आधार पुरुष प्रधानता है। समाज भी परिवार को सदैव पुरुष के साथ अथवा पुरुष से जुड़ा हुआ देखना चाहता है सारी सत्ता, सारे मूल्य और संस्थायें पुरुषों के हाथ में हैं।

स्नेह मोहनीश की 'बहुत देर कर दी पावस तुमने आने में' कहानी का नायक भार्गव पत्नी और बच्चों को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। कुछ वर्षों पश्चात् जब वह वापस लौटता है तो वह अनुभव करता है कि इतने वर्षों में सब कुछ बदल गया है। बेटा विद्रोही हो गया है। बेटी आयु से अधिक समझदार। सभी ने अलग-अलग जीने के बहाने तलाश लिए हैं।

संक्षेप में, महिला कथाकारों ने पुरुष के उदात्त रूप का चित्रण बहुत कम किया है। मंजुल भगत, चंद्रकिरण सोनरिक्सा, चंद्रकांता जैसी रचनाकारों ने पुरुष के उदात्त और अवदात्त दोनों ही रूपों का चित्रण किया है किंतु अधिकतर महिला कथाकारों ने पुरुष के उस स्वार्थी रूप को उधाड़ा है जो समाज को व्यवस्थित नहीं होने देता। पुरुष के बिना परिवार को यह समाज महत्त्व नहीं देता, किंतु किसी महिला कथाकार ने पुरुष के बिना समर्थ सशक्त परिवार को आधार बनाकर रचनाएँ नहीं लिखीं। पुरुष वर्चस्व की मान्यता के कारण समाज का अधूरापन बढ़ा है जो स्त्री की ताकत को कम करता है।

□ □

३७१/६ प्रगतिनगर, मेरठ २५०००१

● डॉ. सतीश पांडेय

### साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध आदिवासी अस्मिता की समरगाथा : हुल पहाड़िया

‘जो इतिहास में नहीं है’ में राकेश कुमार सिंह ने इतिहास-दृष्टि और साहित्य के विषय में लिखा है – ‘इतिहास की सत्यता को इन कसौटियों पर अवश्य परखा जाना चाहिए कि इतिहास किसने लिखा? कब लिखा गया? किसके लिए लिखा गया? और यह भी कि इतिहास किसी देशकाल की किन परिस्थितियों में लिखा गया? आदिवासी आंदोलनों के संदर्भ में लिखित इतिहास में उपर्युक्त प्रश्नों की निर्णायक प्रासंगिकता है क्योंकि इतिहास की आँख सत्ता द्वारा समर्थित आँकड़ों, सत्ता द्वारा प्रायोजित तथ्यों एवं सत्ता के प्रति निष्ठा की नीम रोशनी में समय को देखती है जबकि चिरंतन प्रतिपक्ष – साहित्य - की आँख जन के जीवन- मरण के प्रश्नों तथा संवेदना के धवल प्रकाश में समय को देखती है। (पृ. ९)

इसी कारण इतिहासकारों ने अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों के विरुद्ध आदिवासियों के संघर्ष को भले ही महत्व न दिया हो किन्तु ‘जो इतिहास में नहीं है’ उपन्यास में राकेश कुमार सिंह ने सिदो-कान्हू के नेतृत्व में किए गए संताल-विद्रोह को अंग्रेजों की साम्राज्यवादी शोषक नीतियों तथा अपनी जातीय अस्मिता की रक्षा और देश की आजादी के लिए आदिवासी समाज द्वारा किए जाने वाले संघर्ष के रूप में चित्रित किया है।

इसी क्रम में उनका ‘हुल पहाड़िया’ उपन्यास भी है जिसमें आदि विद्रोही तिलका माँझी की समर गाथा कही गयी है। अंग्रेज इतिहासकारों ने तिलका माँझी को ‘तथाकथित डकैत’ या ‘कपोल कल्पित चरित्र’ तक कहा है लेकिन राकेश कुमार सिंह की मान्यता है कि ‘यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा लिखे गए भारतीय इतिहास में भूखे-नंगे अशिक्षित अरण्यवासियों का उल्लेख अंग्रेजों को महिमा मंडित करने की अनिवार्यता के कारण ही हुआ है।’ विवेच्य कृति में उपन्यासकार ने तिलका माँझी के जीवन के ऐतिहासिक तथ्यों को यथासम्भव प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इतिहास की टूटी हुई कड़ियों को तर्कसंगत एवं विश्वसनीय औजारों से जोड़ने के लिए उन्होंने मगध विश्वविद्यालय बोधगया के इतिहास विभाग के प्रमुख

प्रो. श्यामविहारी सिंह, राजेंद्र और जेनिफर स्पियर्स जैसे चरित्रों की सृष्टि की है।

प्रो. श्यामविहारी सिंह मानते हैं कि यूरोपीय इतिहासकारों ने सभी भारतीय आदिवासियों के संघर्ष को विद्रोह कह कर उनकी महत्ता कम करने का षड्यंत्र किया है। पहाड़िया लोगों के आंदोलन को तो लगभग इतिहास के बाहर ही कर दिया है लेकिन ये विद्रोह नहीं बल्कि क्रांतियाँ थीं। इसके कई स्थानीय साक्ष्य उस क्रांतिगर्भा जमीन पर बिखरे पड़े हैं किन्तु उन्हें इतिहास के हाशिये पर भी जगह नहीं दी गयी। उनके अनुसार तिलका कोई विद्रोही नहीं बल्कि एक लक्ष्य हेतु संघर्षरत योद्धा थे। उनका जीवन-संघर्ष और उनकी शहादत टुकड़ों-टुकड़ों में स्थानीय साक्ष्यों, लोकगीतों, परंपराओं, किस्सों यानी जनमानस में है। इसी लिए राजेंद्र भी स्पष्ट कहता है – ‘तिलका बाबा वाज अ पहड़िया, नॉट संताल एंड ही वाज नॉट अ रिबेलियन, रादर ही वाज अ वैलिगंट फाइटर फॉर द कॉज।’ (पृ.९१)

अंग्रेजी शासन के हितों के लिए प्रतिबद्ध इतिहासकारों ने इसी लिए साम्राज्यवाद एवं शोषण विरोधी तिलका के संघर्ष को इतिहास में स्थान नहीं दिया बल्कि उसके बदले में दर्ज हुए अंग्रेजों के पिदू जमींदार, दुम हिलाने वाले चापलूस नवाब, पहले मित्र, फिर रियासतों के हडपे जाने पर तलवारें भाँजने वाले रजवाड़े ...स्वराज नहीं स्वशासन की भीख के लिए कटोरा हिलाते रिरियाने वाले कथित स्वतन्त्रता सेनानी, अंग्रेजों से गोलमेज पर लल्लो-चप्पो और ठाकुरसुहाती बतियाने वाले नेता। (पृ. ९३)

इसी इतिहास दृष्टि के कारण इतिहासकारों ने यह तथ्य भी इतिहास में दर्ज कर दिया कि तत्कालीन कलक्टर ऑगस्टस क्लीवलैंड ने बिना किसी दमन या रक्तपात के प्रेम, विश्वास और परोपकार के माध्यम से पहाड़िया विद्रोह को समाप्त किया। पहाड़िया लोगों को सभ्य बनने तथा अंग्रेजी हुकूमत के प्रति निष्ठावान बनने को प्रेरित किया। (पृ.२१४)

उपन्यासकार ने क्लीवलैंड की इसी छवि के पीछे छिपी उसकी कूटनीति को एक्सपोज किया है। वस्तुतः क्लीवलैंड पहाड़िया आदिवासियों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करके उनका विश्वास जीतना चाहता था और फिर उन लोगों को अन्य आदिवासियों के विरुद्ध खड़ा करना चाहता था। आपस में फूट डालने की इस साम्राज्यवादी छली कूटनीति को तिलका ने भलीभाँति ताड़ लिया था। इसीलिए उसने ईस्ट इंडिया कंपनी के इस षड्यंत्र के विरुद्ध खुला युद्ध घोषित कर दिया। उपन्यासकार ने तिलका के नेतृत्व में चलने वाले इस संघर्ष के माध्यम से न सिर्फ तिलका की वीरता, संगठन-शक्ति एवं संघर्ष-क्षमता का परिचय दिया है बल्कि पहाड़िया समाज के दुख-दैन्य और अभाव तथा साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्ति की उसकी छटपटाहट को भी शब्दबद्ध किया है। तिलका अंग्रेजों की शोषक एवं विस्तारवादी नीतियों का प्रबल विरोधी था। उसका समूचा संघर्ष इन्हीं नीतियों से मुक्ति का प्रयास था। उपन्यासकार इस ओर संकेत करते हुए स्पष्ट कहता है – ‘यह संघर्ष उस जीवन के लिए था जिसकी नियति है मरण। एक ओर थे शोषित, वंचित, काले, अनपढ़, भूखे, पहाड़ों के चिर निवासी पहाड़िया। दूसरी



ओर थी हड़प नीति की आराधक, विश्व की सर्वाधिक सभ्य सुशिक्षित होने का दावा करने वाली अंग्रेज जाति, जो पृथ्वी के जंगल तराई जैसे भूक्षेत्रों को सभ्य और सुशिक्षित बनाने के पवित्र उद्देश्यों का नकाब धारे अविकसित क्षेत्रों में सेंध लगाती थी और फिर अपने साम्राज्यवादी पंजे गाड़ कर उन क्षेत्रों पर सदियों की दासता लाद कर वहाँ के आदि निवासियों का रक्त चूसती रहती है।' (पृ. ३१५)

तिलका मांझी उर्फ जबरा के संघर्षमय एवं चुनौतीपूर्ण जीवन का आरंभ उसी समय हो गया था जब मांझी बनने के लिए उसके सामने आदिवासी परंपरानुसार तीन शर्तें रखी गयी थी। पहली शर्त थी बुलबुलिया दोहर में खेती लायक जमीन बनाना जबकि इसी दोहर में एक लंगड़ा बाघ रहता था जिसे मारे बगैर यह संभव नहीं था। दूसरी शर्त थी महाअकाल में समूचे गाँव के पेट भरने के लिए अन्न का इंतजाम करना। तीसरी शर्त सोनारी गाँव की लड़की गेंदी से फागुन के हेलमेल बढ़ाने के कारण दोनों गाँवों में उपजे तनाव कम करना थी। जबरा ने अपने साहस और बुद्धि कौशल से लंगड़े बाघ को मार कर बुलबुलिया दोहर में खुंटकट्टी कर दी थी। साथ ही उसने अपने वाक्चातुर्य से गेंदी और फागुन का विवाह तय कराकर सोनारी गाँव से तनाव भी कम कर दिया था लेकिन भीषण अकाल के समय में पूरे गाँव के लिए अन्न का प्रबंध करना कठिन समस्या थी क्योंकि अकाल के ठीक पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने अधिक कीमत देकर लोगों से उनका सारा चावल खरीद लिया था। अब वही चावल कई गुना अधिक कीमत पर बेचा जा रहा था। इसका समाधान जबरा ने अलग ढंग से निकाला था। उसे पता था कि फिरंगियों की कर-वसूली का जगह-जगह आदिवासियों द्वारा विरोध किया जा रहा था। इसके बदले आदिवासियों को बलिदान भी करना पड़ रहा था। जबरा ने भी इससे प्रेरणा लेकर इस जुझारू परंपरा को आगे बढ़ाने का संकल्प लिया। उसे बचपन से ही तेलियागढ़ का सपना आता था जो पहाड़िया जाति के स्वतंत्र राज्य का सपना था। उसने अकालग्रस्त अपने गाँव की भूख मिटाने का रास्ता क्रूरतापूर्वक मालगुजारी वसूलने वाली कंपनी का खजाना लूटकर निकाला था। इस लूट से अंग्रेज अधिकारी अचंभित हो उठे थे क्योंकि इतना बड़ा साहस करने वाले का उन्हें कोई पता नहीं चला था। सिर्फ उन्हें इस घटना से जुड़ा एक नाम मिला था और वह था जबरा।

यहीं से ईस्ट इंडिया कंपनी की लुटेरू कर-प्रणाली के विरोध की एक ऐसी शुरुआत हुई थी जिसने जबरा के जीवन को ही बदल दिया था। वास्तव में कंपनी की कर-प्रणाली के पहले विरोधी पहाड़िया लोग ही थे। उनका तर्क था कि पहाड़िया जब कृषि कर्म में विश्वास ही नहीं रखते तो फिर किसी भूमि की मालगुजारी कैसे वसूल सकती थी कोई कंपनी। (पृ. १०२)

अकाल के कारण डकैती की घटनाएँ बढ़ गयी थीं। कंपनी के अधिकारियों को शक था कि ये डकैतियाँ पहाड़िया लोग ही कर रहे हैं और उन्हें स्थानीय जमींदारों तथा घटवालों का समर्थन मिल रहा है। सुल्तानाबाद की रानी सर्वेश्वरी का नाम इसमें सबसे ऊपर था। कंपनी के

अधिकारियों ने लगान वसूलने के साथ-साथ कानून-व्यवस्था भी कायम करने का निश्चय किया था। अतः पहाड़िया लुटेरों पर नियंत्रण रखने का दायित्व कैप्टन ब्रुक को सौंपा गया था। ब्रुक को खजाना लूट कांड में जबरा पहाड़िया के शामिल होने का पता चला था लेकिन यह कोई ठोस सुराग नहीं था। अतः उन्होंने जंगल तराई में देशी व्यापारियों, मित्र जमींदारों और सूदखोर महाजनों को बसाना आरंभ कर दिया था। यह आदिवासियों को अल्पसंख्यक बनाने की कूटनीति थी; आदिवासियों और गैरआदिवासियों के बीच कंपनी के दलालों-बिचौलियों को प्रस्थापित करने की सोची-समझी रणनीति थी। जंगल तराई के रजवाड़ों और वनवासियों से अनाधिकार राजस्व वसूली एक थोपी हुई व्यवस्था थी जो उनके आदिम अधिकारों पर डाका डालने जैसा था। कंपनी ने एक समय यह घोषणा की थी कि व्यापार करते हुए साम्राज्य-विस्तार अंग्रेजी नीति के विरुद्ध है लेकिन वे मुर्शिदाबाद से जंगल तराई तक कंपनी का एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने में लगातार लगे हुए थे।

कंपनी ने उत्तर के पहाड़िया लोगों को लगान देने के लिए राजी कर लिया था। अतः उनमें से जो खेती करना चाहते थे, उन्हें बीज और हल-बैल देने की व्यवस्था की जा रही थी। आपस में फूट पड़ते देख कर पहाड़ पर आग जलायी गयी थी। बड़ी पंचायत में सभी लोगों ने यह तय किया था कि यदि मरना ही है तो वे लोग बाल-बच्चों पर लगान का भूत बोझ कर नहीं बल्कि कंपनी से लड़ते हुए मरेंगे। कंपनी से लड़ने की अगुआई जबरा को सौंपी गयी थी। जबरा ने कंपनी का आक्रमण झेलने के बदले आक्रामक होने की ठान लिया था। उसने युवकों को संगठित करना शुरू कर दिया था। उसका पहला शिकार कैप्टन ब्रुक बना था। जंगल के गाँवों तक पहुँचने के प्रयास में ब्रुक को नाले के पास जबरा और उसके लड़ाकों की तीरों का सामना करना पड़ा था। इस आक्रमण में कैप्टन ब्रुक और उसके अनेक सैनिक मारे गए थे।

कैप्टन ब्रुक की मृत्यु से बौखलाए अंग्रेज अधिकारियों ने पहाड़िया आदिवासियों को वश में करने की अनेक योजनाएँ सोची थीं लेकिन ब्राउन और क्लीवलैंड की योजना को सहमति दी गयी थी। उन्होंने पहाड़िया लोगों के भोलेपन का फायदा उठाने के लिए उनकी पारंपरिक व्यवस्थाओं, सामाजिक पंचायतों और जनजातीय आस्थाओं को मान्यता देने का निश्चय किया था। उनका विश्वास था कि पहाड़िया लोगों की निष्ठा प्राप्त कर अन्य विद्रोहियों की रीढ़ तोड़ी जा सकती है। इस योजना के तहत मांझियों के पास लाल मुर्गी और सफेद बकरा भेज कर सम्बन्धों में प्रगाढ़ता लाने का प्रयास भी किया गया। मांझियों से निकटता स्थापित कर वे दो प्रस्ताव मनवाने में भी सफल हुए थे। पहला था रास्ते में लूट-पाट रोकने के लिए रखवाले नियुक्त करना जिसका पूरा खर्च कंपनी को देना था। दूसरा, जंगल साफ कर खेती करना। इसके लिए कोई लगान नहीं देना था। इन दोनों योजनाओं द्वारा कंपनी ने पहाड़िया लोगों में अपनी स्वीकार्यता स्थापित कर ली। भोलेभाले पहाड़िया बिलकुल नहीं भाँप पा रहे थे कि ब्राउन की उदारता, निमंत्रण और समझौता एक छलना था।

क्लीवलैंड ने पहाड़िया लोगों में अपनी पैठ बना ली थी। वह उनके पूजा-पर्व, शिकार पर्व तथा गुमना मांझी के श्राद्ध आदि में भी शामिल हुआ था। जबरा से उसने अच्छा-खासा मेल-जोल बढ़ा लिया था। अवसर पाकर उसने हर गाँव से निशाना लगाने वाले जवानों की टोली के रूप में पहाड़िया फौज बनाने के लिए जबरा को राजी कर लिया था। साथ ही उसने तेलियागढ़ के लूट में किसी जबरा के शामिल होने की बात कहकर उस पर अपना दबाव बढ़ाने का प्रयास भी किया था। जबरा की पत्नी रुपनी ने कंपनी की फौज में उसके शामिल होने की बात सुनी थी तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ था। उसने जबरा को समझाते हुए कहा था—‘एक दिन तू जागोगा जरूर और जब निसा फटेगा तो यही पहाड़ तेरा साथ देगा तिलका! यही पहाड़िया तेरे हित-मीत होंगे, वह मुंहझौसा चिलमिली तेरा अपना कभी नहीं होगा।’ (पृ. २०७)

क्लीवलैंड ने पहाड़िया समाज का विश्वास जीतने के लिए उनकी पंचायती व्यवस्था को मान्यता देने के साथ-साथ उन्हें यह अधिकार भी दे दिया था कि वे आरोपियों का अपराध तय कर उनका दंड निर्धारित करें। पूरा विश्वास जीत लेने के बाद क्लीवलैंड ने उन्हें संचाल और मुंडा विद्रोहियों के दमन के लिए भेज दिया था और इधर रानी सर्वेश्वरी का राज-पट भी छीन लिया था। तिलका को उसकी चाल समझ में आने लगी थी कि वह जंगल के लोगों को आपस में लड़ा कर उनके ही हाथों उन्हें मरवा रहा था। अतः उसने बगावत करते हुए कहा था—‘एक-एक कर दीकू लोगों ने हमसे जमीन, जंगल और पहाड़ छीनना चाहा। भुरंगी दीकू नहीं छीन सके। लड़े और हारे। अब हमारा मान छीन कर हमें लाल पगड़ी पहना दिया। मितार्ई के धोखे में हमें कंपनी का चाकर बना लिया, पर अब नहीं। अब नहीं पहनेंगे हम नीला कुर्ता और लाल पगड़ी। कमरपट्टा और जूता भी।’ (पृ. २३०)

बगावत की इस घटना से क्लीवलैंड भी यह जान गया था कि पहाड़िया लोग उसकी झूठे प्रेम की कूटनीति ताड़ चुके हैं। इधर तिलका ने भी अपने भीतर के जबरा को मार डाला था। उसे पता था कि कंपनी ऐसा अजगर है जिसके कई मुँह हैं। अतः हर ओर मोर्चा जरूरी है। क्लीवलैंड के आक्रामक रुख का जवाब तिलका ने छिप कर युद्ध करने के माध्यम से देने की योजना बनाई। क्लीवलैंड ने सेना की छह टुकड़ियों को जंगल की ओर भेजा लेकिन सभी को मुँह की खानी पड़ी। स्वयं क्लीवलैंड को भी पराजित होकर आना पड़ा। उसे यह लगने लगा था कि हिलरेंजर्स के कमांडर जबरा का विद्रोह, उसकी फरारी और उसके हाथों कंपनी की पराजय को अब छिपाया नहीं जा सकता था। ऐसे अपमानजनक उल्लेख दस्तावेजों से बाहर कर दिये जाने पर ही कंपनी का गर्व अक्षुण्ण रह सकता था। क्लीवलैंड ने यही किया। उसने कंपनी की सैन्य टुकड़ियों के साथ पहाड़िया विद्रोहियों की मुठभेड़ का उल्लेख तो किया किन्तु किसी नाम विशेष के उल्लेख से कतरा गया।

क्लीवलैंड ही नहीं कंपनी के उच्च अधिकारी भी कंपनी की पराजय का उल्लेख दस्तावेजों में नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने सरकारी दस्तावेजों में कंपनी की साख के अनुरूप एक

महीने पहले की तारीख से क्लीवलैंड का कार्यभार चार्ल्स को सौंपने का पत्र निकाला। यहाँ तक कि जिन दो अंगरक्षकों ने क्लीवलैंड को तीर से मारकर भागते हुए तिलका मांझी को देखा था, उनको भी उन्होंने अब्दुल रसूल खान के हाथों मरवा डाला था जिससे कोई इस बारे में गवाही न दे सके। इस तरह क्लीवलैंड की मृत्यु की सच्चाई इतिहास के विवादी अंधेरे में खो गयी थी।

ईस्ट इंडिया कंपनी के उच्चाधिकारी जानते थे कि जंगल तराई में प्रत्यक्ष विद्रोह तो पहाड़िया आदिवासी ही कर रहे थे किन्तु उनको हथियार और रसद की आपूर्ति गैर आदिवासियों द्वारा की जा रही थी। अतः उन्होंने रसद एवं हथियारों के प्रवाह को रोकने का निश्चय किया। उन्हें विश्वास था कि इससे पहाड़िया विद्रोहियों में फूट पड़ जाएगी। वे या तो बिना रक्तपात किए हथियार डाल देंगे या फिर मैदान में उतरकर युद्ध करने के लिए विवश होंगे जहाँ कंपनी की सेना भारी पड़ेगी।

कंपनी ने नई दस वर्षीय बंदोबस्ती थोप दी थी जिसके अनुसार नए जमींदार पनप रहे थे जो कंपनी की मांग से तिगुना-चारगुना कर वसूल कर अपनी जेबें भर रहे थे। सजवाल भी उत्कोच की लालच में जमींदारों की सहायता कर रहे थे। जंगल की मौलिक प्रशासनिक व्यवस्था कंपनी ने अमान्य कर दी थी और राजस्व वसूली का लक्ष्य अचानक इक्कीस लाख रुपए अधिक बढ़ा दिया था। नाकाबंदी के कारण पहाड़िया लोगों तक अनाज की आपूर्ति बंद हो चुकी थी। गांवों में औरतों ‘बच्चों की हालत खराब होती जा रही थी। ऐसे में जब कि बाल-बच्चे भूख से कलकला कर मर रहे थे तथा औरतों का मान माटी हो रहा था, मर्दों का मान-मूख के लिए लड़ना उसके कलेजे में काँटों की तरह चुभ रहा था। यद्यपि पुत्ता सरदार ने उसका मनोबल बढ़ाते हुए कहा था कि हमेशा थे, आगे भी आएँगे दीकू। हमारी लड़ाई पहले भी चली थी। आगे भी चलेगी। कल भी कोई हमारा अगुआ था लड़ाई में। आज तू है। कल तू बूढ़ा होगा तो कोई और खड़ा होगा पहाड़ की आन के लिए। पहाड़िया देह हारते हैं तिलका मन नहीं। पहाड़िया मोर्चा हारते हैं, लड़ाई नहीं।’ (पृ. ३०८)

इधर कंपनी घेरा डाले बैठी थी लेकिन पहाड़ पर चढ़ाई करने से बाज आती रही और पहाड़िया मैदानी संघर्ष से कतराते रहे। अखरा, मादल, पर्व-त्योहार खत्म होते जा रहे थे। पहाड़िया बूढ़े-बच्चे तथा औरतें अशक्त यायावर की भाँति भटक रहे थे। भूख से लड़ना कठिन होता जा रहा था। तिलका की बेचैनी इसलिए बढ़ती जा रही थी कि कहीं खोखली आँतें लडाकों का साहस न खोखला कर दें। अंततः उसने निश्चय किया कि अब विजय या वीरगति। यह वज्र की भाँति धधकती मौत होगी जो निकटस्थ हर चीज को जलाकर क्षार-क्षार कर समाप्त होगी। ग्लानि, आत्मप्रतारणा, आत्मदया पराजित के शील हैं। पहाड़िया अपराजित थे। पहाड़िया के शील थे प्रतिकार, जीवट, जुझारूपन और अस्मिता हेतु प्राणोत्सर्ग। (प. ३१३)

साम्राज्यवादी शोषक सत्ता से मुक्ति पाने एवं अपनी अस्मिता की रक्षा करने के लिए

संघर्षरत पहाड़िया अपना प्रणोत्सर्ग करते रहे। यह संघर्ष शोषित, वंचित, अनपढ़, भूखे पहाड़िया लोगों का था जो अंग्रेजों की हड़प नीति के विरुद्ध लड़ रहे थे। इस आजादी के लिए उन पर इस तरह जुनून सवार था कि तिलका को पकड़ने का प्रयास करने वालों के सामने हर आदिवासी खुद को तिलका बताकर उसे बचाने तथा अपना बलिदान करने को तत्पर था। अंततः तिलका को पकड़ लिया गया किन्तु अचेत अवस्था में भी तिलका को तेलियागढ़ की आजादी का सपना ही दिखाई देता रहा। साम्राज्यवादी नीतियों के लिए खतरनाक व्यक्ति मानकर उसे सार्वजनिक रूप से वृक्ष की डाली से लटका कर फाँसी पर चढ़ाने की नई प्रथा अंग्रेजों ने शुरू की।

तिलका का यह संघर्ष तिलका के बाद भी जारी रहने का स्पष्ट संकेत उपन्यासकार ने दिया है क्योंकि तिलका का बेटा भी तेलियागढ़ में दमामा बजने का सपना देखता है इस तरह अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिए संगठित संघर्ष के पहले प्रणेता तिलका मांझी की इस संघर्ष-गाथा को उपन्यासकार ने पहाड़िया जनजाति की संघर्षशीलता, जीवतता और अपनी अस्मिता के लिए प्राणोत्सर्ग की कथा के रूप में बड़े ही सहज ढंग से प्रस्तुत किया है।

□ □

- सम्पादक : सुजन संदर्भ,

समीक्ष्य पुस्तक :

हुल पहाड़िया,

राकेश कुमार सिंह,

सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली.

प्र. सं. २०१२, पृष्ठ- ३२०,

मूल्य - ४९५ रुपए।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

के. जे. सोमैया कला व वाणिज्य

महाविद्यालय, विद्याविहार

मुंबई-४०००७७

## काव्य-समीक्षा

● डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

## समकालीन कविताओं में आदिवासी-विमर्श

आदिवासी मनुष्य आम मनुष्य से अधिक संवेदनशील, उदार, उदात्त, सहनशील और सरल है। वह जीवन का व्यापार नहीं करता वह तो सिर्फ जीने के नियम जानता है। हमारे तथाकथित धार्मिक हिन्दू कट्टरवादियों और मध्यवर्गीय मानसिकता वाले समुदाय ने या तो इन्हें अपने दायरे से बाहर न आने दिया हो या ये आना ही न चाहते हों। इसी के परिणाम स्वरूप ये विकसित नहीं हो पाए और जंगली कहलाए जाने लगे। यह वर्ग सदा से ही जल, जमीन और जंगल से जुड़ा रहा। अब वह पढ़ने-लिखने लगा है। उसे जीवन की समझ आ गई है। अतः वह अपनी जिंदगी को एक सीमित दायरे से बाहर निकालकर अपने अधिकारों को पाने के लिए लिखने-पढ़ने और जरूरत पड़ने पर भिड़ने भी लगा है।

महाराष्ट्र में दलितों की तरह आदिवासी समाज पर भी बाबा साहब का प्रभाव पड़ा। उनमें भी समानता, बंधुत्व व आजादी की सोच ने जन्म लिया क्योंकि तथाकथित सभ्य समाज ने उन्हें सदा से ही मुख्य धारा से अलग रखा और उन पर तरह-तरह के अत्याचार करते रहे। अंग्रेजों, जमींदारों और कर्मचारियों ने लगातार उनके द्वारा रहने योग्य बनाई गई जमीन से उन्हें खदेड़ा, जिसके कारण उन्हें हमेशा यायावरो की तरह जीवन व्यतीत करना पड़ा।

यदि हम आजादी के संदर्भ में आदिवासियों के योगदान की बात करें तो हम पाते हैं कि सन् १८५५ में सबसे पहले अंग्रेजों, महाजनों और कर्मचारियों के विरुद्ध 'सिद्धू-कानू' ने दरोगा 'महेश लाल' की हत्या कर बीस हजार सैनिकों के साथ अंबार परगना पर हमला कर राजभवन पर कब्जा कर लिया। इसमें दस हजार आदिवासी मारे गए। अंग्रेजों ने तो राजपूत हुक्मरानों के कहने पर इन्हें 'हैबीस कार्पस' एक्ट के तहत जन्म जात अपराधी घोषित कर दिया था, जिसे आदिवासियों द्वारा आजादी के पहले ही वापिस करा लिया गया। 'गाँधीजी' के बहुत पहले ही छोटी नागपुर और संधाल परगना में लगान के विरुद्ध 'विरसा' और 'मुंडा' नामक सरदारों ने विद्रोह छेड़ दिया था। राँची के 'जतरा उराव' नामक २५ वर्षीय युवक ने गाँधी जी के पहले ही सत्याग्रह का बिगुल बजा दिया था। 'सिनगी दई' ने औरतों की सेना तैयार कर 'मीर कासिम' के खिलाफ युद्ध किया। 'सीताराम राजू' के नेतृत्व में पूरे आदिवासी समाज ने अंग्रेजों के

विरुद्ध हथियारबद्ध गुरिल्ला युद्ध चलाया।

आजादी के बाद से लेकर आज तक आदिवासी समाज अपने शोषण का मूक दर्शक बना रहा। समाज के ठेकेदार, महाजन, दलाल, राजा, नवाब व शहरी लोग अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु उनके जंगलों को लूटते रहे हैं। ये लोग विकास के नाम पर जंगलों को काटते चले गए, जिसके परिणाम स्वरूप आदिवासियों के रोजगार के साधनों के साथ-साथ उनसे उनके घर भी छिनते चले गए अर्थात् वे विस्थापितों का जीवन जीने के लिए विवश हो गए। अब उनके जंगल, लकड़ी के टालों में परिवर्तित हो गए, गाछ खूंटें और बल्ली बन गए या रेल की पटरियों में तबदील हो गए। जिसे देखकर आदिवासियों को रह-रहकर जंगलों में बिताया जीवन याद आता है जिसे 'ग्रेस कुजूर' ने 'एक और जनी-शिकार' के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है –

कहाँ गई वह सुगंध/महुआ और डोरी की/गूलर और केयोंद की/

कहाँ खो गया बाँसों का संगीत/और जाने कहाँ उड़ गई/ संधना की सुगंध?

आदिवासी साहित्य अक्षर से वंचित रहा, किंतु उसका संपूर्ण इतिहास और उसकी गौरवशाली शौर्य-गाथा उनके लोकगीतों, किंवदंतियों, लोककथाओं तथा मिथकों के माध्यम से अभिव्यक्त हो जाता है, लेकिन अब आदिवासी भी शिक्षित होने लगा है, जैसे ही उसे अक्षर ज्ञान हुआ तो उसने जाना कि 'झाँसी की रानी' की तरह उनके यहाँ भी 'सिनगी दई' विदेशियों से टक्कर लेती रही हैं, जो आदिवासियों के शौर्य का प्रतीक बन गई है। जिसे 'एक और जनी-शिकार' के माध्यम से कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है –

और अगर/अब भी तुम्हारे हाथों की/ अंगुलियाँ थरथराईं/ तो जान लो/

मैं बनूँगी एक बार और/ 'सिनगी दई'/ बाधूंगी फेटा/ और केसरी फिर से।

आज हमारा समाज विकास के नाम पर स्वर्ण सिद्धि हेतु प्राकृतिक संसाधनों को अर्जित करने की होड़ में लगा हुआ है। इस होड़ा-होड़ी के चपेट में अब हमारे पर्वत, वन और नदियाँ भी आ गई हैं, जो कभी ऋषि-मुनियों की साधना के लिए सबसे शांतिपूर्ण और सुरक्षित जगह मानी जाती थी। जहाँ प्रकृति के सभी प्राणी अपनी थकान मिटाने के लिए शरण लेते थे, जो आदिवासियों की साथी थीं; जिनसे वे अपने दुःख-सुखों का संवाद करते थे तथा जिसका आदिवासियों ने कभी अपने स्वार्थ के लिए दोहन नहीं किया। चंद स्वर्णी लोगों के कारण आज वही पर्वत, नदियाँ और जंगल अपना अस्तित्व खोते जा रहे हैं। जिसे 'ग्रेस कुजूर' ने 'हे समय के पहरेदारों' के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

लौटकर पूछेंगी/ अपने खंडहर होते/ पर्वत से –

कि कहाँ गया/ उसका उद्गम?/ कहाँ गया उसका वैभव?

सभ्य कहे जानेवाला पुरुष वर्ग सदा से ही औरत का शोषण करता आ रहा है। वह औरत को अपने से एक कदम भी आगे बढ़ता नहीं देख सकता है। लेकिन आदिवासी कहे जानेवाले पुरुष ने सभ्य पुरुष की आलोचना करते हुए, उसे औरत के महत्त्व से अवगत कराते हुए कहा कि आप लोग सदा से ही जिस औरत को प्रताड़ित व जलील करते आए हो वह आप लोगों के लिए हमेशा वरदान बनकर ही आई है। वह आप लोगों का संरक्षण बरगद के पेड़ की तरह करती आ रही है और एक आप हैं कि जिन्हें उनके बौना बने रहने में ही अलौकिक आनंद कि अनुभूति होती है जिसे 'ग्रेस कुजूर' ने 'बौना संसार' के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है –

इसके बावजूद वह फूलती/ फलती है/ और तुम उसके/

इसी बौनेपन में कितने खुश हो/ ओह.../

कितना बौना है यह आदमी/ और उसका बौना संसार।

सदियों से आदिवासी का जीवन आम आदमी से भिन्न रहा है। वह अभावों में जीते हुए भी संतुष्ट था। उसे किसी भी प्रकार की सुख-सुविधाओं की अपेक्षा नहीं थी। उसकी गिनती सदा से ही असभ्य लोगों में होती थी, लेकिन सभ्य कहे जानेवाले समाज की स्वार्थी दृष्टि ने उसे इन स्थितियों में भी चैन से नहीं रहने दिया। वह विकास के नाम पर इनके घर, जंगल और जमीन को हड़पने की योजना बनाने लगा, जो आदिवासियों के लिए असहनीय हो गया, अतः आक्रोश में आकर इन्होंने कलम उठाई और अपने अधिकारों को पाने के लिए कागजी लड़ाई-लड़ने का संकल्प किया। जिसे 'ग्रेस कुजूर' ने 'कलम को तीर होने दो' नामक कविता के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है –

क्या कर लेंगी उनका / बंदूक और गोलियाँ/ लाँघते ही देहरी/

हजारों कहानियाँ/ नस-नस हो गई कमान सब लहू तीर/

देखना बाकी है कलम को तीर होने दो।

आदिवासियों ने सदा पर्यावरण के अनुकूल जीवन यापन किया। वे सदैव जंगलों में रहे लेकिन उन्होंने जंगलों को काटकर अपने लिए घर कभी नहीं बनाए इसके बावजूद भी अपने आपको कभी बेघर नहीं समझा, उनका खूँखार जंगली जानवरों से समय-समय पर सामना तो हुआ लेकिन उन्होंने कभी भी उन्हें नुकसान नहीं पहुँचाया, उनके लिए ऊँचे-ऊँचे पेड़ों पर चढ़ना-उतरना आम बात थी, उन्होंने जंगली फलों का सेवन तो किया किंतु उन्हें बरबाद नहीं किया, जहरीले साँपों तथा समुद्री जीवों आदि से उनका मित्रवत व्यवहार रहा यहाँ तक कि बड़े से बड़ा तूफान भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। अर्थात् जो संपूर्ण सृष्टि के सभी सृष्टियों से मित्रवत व्यवहार करता रहा आज उसी को विकास के नाम पर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए सभ्य समाज समूल नष्ट करने पर तुला हुआ है। जिसे 'हरि राम मीणा' ने 'खत्म होती हुई एक

नस्ल' के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

मगर /जिन्होंने हमें गोलियों से भूना/ वे इंसान थे/ जिन्होंने हमें टापुओं के इधर-उधर खदेड़ा/ वे इंसान हैं/ और जो हमारी नस्ल को उजाड़ेंगे/ वो इंसान होंगे।

रोटी, कपड़ा और मकान व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकता है। इनके अभाव में व्यक्ति का जीवन अस्थिर हो जाता है, उसका मस्तिष्क काम करना बंद कर देता है। आदिवासी इन सभी मूलभूत आवश्यकताओं से कोसों दूर होते हुए भी अपने परिवार के साथ शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है जिसके मन में संपूर्ण सृष्टि के लिए सिर्फ प्यार है। लेकिन हमारा सभ्य समाज इनसे जीवन के इन क्षणों को भी छीन लेना चाहता है। वह उनकी जमीन और उनके घर रूपी जंगलों को उनसे छीनता चला जा रहा है। जिसे 'हरि राम मीणा' ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है –

खोज रहे हैं किसी चट्टान का आसरा/ धंस रहे हैं/ घने पेड़ों और झुरमुटों में/

लहलुहान और भौचक्के/ बेदखल होते हुए/ हमारी अपनी पुश्तैनी जमीन से।

आदिवासी अपने जमीन व जंगल से अथाह प्रेम करता है। जंगल उनके लिए देवता से बढ़कर हैं जिन्हें वह समय-समय पर पूजता रहता है। जो अब उससे छिनते चले जा रहे हैं क्योंकि उसके पास उसे बचाने के लिए न तो कोई पट्टा है, न खातेदारी, न वसीयत और न ही दस्तावेज। इस तरह उनका जीवन एक स्थान से दूसरे तथा दूसरे से तीसरे स्थान में अपने आपको स्थापित करने में व्यतीत हो जाता है। अर्थात् वे यायावर की तरह जीवन जीने के लिए विवश हैं; जिसके कारण जीवन में उन्हें कोई स्थायित्व नहीं मिल पाता। जिसे हरि राम मीणा ने इस प्रकार व्यक्त किया है –

चूँकि-तुम्हारे पास कोई पट्टा/ कोई खातेदारी/ कोई वसीयत/

कोई बख्शीश नहीं है/ ना ही है कोई दस्तावेजी सबूत/

चश्मदीद गवाह भी तो नहीं है/ अपने सिवा।

आदिवासियों के जीवन में किसी प्रकार का दिखावा नहीं होता है। वे सरल और सीधा जीवन जीने में विश्वास करते हैं। वे मिलजुलकर जीवन बिताने हैं, वे दूसरों की खुशी में खुश रहते हैं तथा दूसरों के दुख में दुखी हो जाते हैं। वे अभावपूर्ण जीवन बिताने के उपरांत भी जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। उनमें जीवन को यथार्थ रूप में जीने की जीवटता कूट-कूटकर भरी हुई है। जिसे कवि हरि राम मीणा जी ने 'जिंदा है हूबहू' में इस प्रकार व्यक्त किया है –

किशोरियों में/ नजर नहीं आये/ मुग्धाओं के उन्नत उरोज/ जंघातट या रतिनिमग्नता

पुरुषों में नहीं तलाश पाया/ मैशिलीशरण गुप्त की तरह/ (आदिम) उदात्त नायक।

आज सभ्य कहा जानेवाला मनुष्य विकास के नाम पर जंगलों को काटता जा रहा है। पेड़ जो हमारे लिए प्राणदायनी माने जाते हैं; विकास के नाम पर उन्हें काटा जा रहा है। उनसे तरह-तरह की उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया जा रहा है। इस नेक काम में विकसित देश भारत का साथ दे रहे हैं। हमारे सभ्य कहलाए जानेवाले लोगों के साथ-साथ विदेशी भी इन संसाधनों का लाभ उठा रहे हैं। लेकिन विकास के नाम पर जंगलों को नष्ट करने की मुहिम छोड़ी जा रही है। आदिवासी अपने उजड़ते आवास को देखकर केवल चिंतित ही नहीं हैं बल्कि उन्होंने जीवन की आशा ही छोड़ दी है, जिसे 'विकास का दर्द' में डॉ. राम दयाल मुंडा ने इस प्रकार व्यक्त किया है –

मुझको विकास का/ दर्द यह असह्य/ देर तक सहना न होगा/

समय से पहले ही मेरा/ काम तमाम होगा?

प्रत्येक प्रदेश, जाति और समाज में कुछ विशिष्ट रीति-रीवाज प्रचलित होते हैं। जिन्हें उत्तराधिकार स्वरूप हम पिछली पीढ़ी से अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। इस विशिष्टता को आदिवासियों के यहाँ व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात प्रचलित 'ओंग जनजाति : अंतिम संस्कार' के माध्यम से इस प्रकार देखा जा सकता है –

कब्र/ क्यूबों की छाल से/ इस कदर बाध दिया गया उसे/ कि छाती से चिपक सकें दोनों/  
घुटने/ और ढाप सकें दोनों हथेलियाँ/ चेहरे को/ इस दौरान सुअर को/ कर दिया गया हलाक/  
बिठा दिया गया अब उसे कब्र में/ वहीं उसके इर्द-गिर्द/ रख दिये गए उसके औजार।

आज आदिवासी जनजाति सभ्य कहे जानेवाले तथाकथित समाज से अपने आपको असुरक्षित महसूस करता है। इस कारण सभ्य समाज का उनके प्रति किये जानेवाला दायम वर्ताव ही है। सभ्यता के नाम पर उनको उनकी जमीन से बेदखल तो कर दिया जाता किंतु मुख्यधारा से जोड़ने में भी पेचीदगी महसूस कर रहे हैं। डी. एस. पी. श्री बख्तावर सिंह ऐसे एकमात्र व्यक्ति हैं जो खतरनाक समझे जानेवाले आदिवासियों से घुल-मिल सकने में कामयाब हो सके। जो मूलतः लुधियाना (पंजाब) के, परंतु अब पोर्टब्लेयर के स्थायी वासी हैं। आदिवासी उनके संबंध में अपना मतव्य इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं –

इस बदहवासी/ और स्वार्थी सभ्यता के बीहड़ों में/ एक तुम ही तो नजर आये/ प्रेम के पाखी।

अब आदिवासी समझ चुके हैं कि सभ्यता के नाम पर सिर्फ उनकी संपत्ति का प्रत्यय हो रहा है। शोषण और स्वार्थी वर्ग अपना उल्लू सीधा करने पर तुले हुए हैं। अतः वे इनका विरोध करने का निर्णय लेते हैं; तथा साथ ही यह संकल्प भी लेते हैं कि जीते जी वे न तो अपनी जमीन

इनके हवाले करेंगे और न ही स्वयं को। उनके इन विचारों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

पकड़ में मत आना/ बस नहीं चले तो/ दूब मरना/ बंगाल की खाड़ी के/ काले पानी में/  
पीढ़ी दर पीढ़ी किशतों में मरने से/ बेहतर है/ सभ्यता के नाम पर शहीद होना।

आदिवासियों का जीवन सदैव से ही अभिशप्त रहा है। इनके साथ लगातार दोगम दर्जे का व्यवहार किया जाता रहा है। इस समाज की अनेक विशेषताएँ होने के बावजूद इसे लगातार शिक्षा से दूर रखा गया। इनके पास मनुष्य के विकास और विनाश की कथा को अभिव्यक्त करने का कोई सशक्त माध्यम नहीं था अतः इन्हें अपनी बात को रखने के लिए लोक-कथाओं को माध्यम बनाना पड़ा। अब समय आ गया है कि वे स्वयं अपनी समस्याओं का विश्लेषण करें और साथ ही नेतृत्व की भूमिका भी अदा करें। वे अन्य पर निर्भर न रहकर स्वयं अपने विकास की संभावनाओं को हर क्षेत्र में तलाशें और बहस चलाएँ क्योंकि स्वपीढ़ी का समाधान स्वयं ही ढूँढा जा सकता है।

□ □

स. प्राध्यापक  
रामनारायण रुइया कॉलेज  
माटुंगा, मुंबई-४०००१९.

## शोध-आलेख

● डॉ. बालकवि सुरंजे

## अरुण कमल की काव्य-संवेदना

अरुण कमल 'निर्जन प्रांत के उर्वर प्रदेश' के कवि हैं। यह उर्वरता 'पोखर की छाती पर जल कुंभियों का घना संसार' ही रूपायित नहीं करती बल्कि गतिशील जीवन यात्रा का संकेत भी देती है, जहाँ अँकुर पनपते हैं। कवि निर्जन घर में केवल 'सूखते नीम के दातौन' ही नहीं देखता अपितु बहिर्जगत् के बदलते संसार पर भी दृष्टि केंद्रित करता है। वह महानगरीय जिंदगी के नए इलाकों में भ्रमित होता हुआ यह प्रश्न करता है कि क्या यही वो घर है? पीपल का पेड़, ढहा हुआ घर और जमीन का खाली टुकड़ा' उसे ग्रामीण परिवेश की याद दिलाता है, क्योंकि शहरीकरण की धुन में रोज कुछ बनाने की बजाय रोज कुछ खोया जा रहा है —

“यहाँ रोज कुछ बन रहा है  
रोज कुछ घट रहा है  
यहाँ स्मृति का भरोसा नहीं  
एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनियाँ  
जैसे वसंत का गया पतझड़ को लौटा हूँ।”

पूँजीवाद और उपनिवेशवाद का सभ्य रूप है आज का भूमण्डलीकरण। इस भूमण्डलीकरण के नाम पर संपूर्ण विश्व में उपभोक्तावाद, उदारवाद और बाजारवाद ने अपना वर्चस्व स्थापित किया। कवि अरुण कमल के शब्दों में “बाजार तो हर हाल में होगा। पहले भी था। यह पूँजीवाद का हमला है। अपने नग्न, नृशंस अवतार में पूँजीवाद। बात चाहे जितनी घिसी-पिटी लगे सच है कि पूँजीवाद सब कुछ को खरीद-बिक्री की चीज में बदल देता है। इसलिए लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक और यह देह भी ऑन सेल है। मीडिया का काम यह है कि वह आपको बाजार में ले चले। विज्ञापनहीन मीडिया की पहचान। कल्पना हो ही नहीं सकती। बाजार कैसर की तरह बढ़ता है। इसे भूमण्डलीकरण कहा जा सकता है।” भूमण्डलीकरण की सही अभिव्यक्ति अरुण कमल की कविताओं में मिलती है। उन्होंने भूमण्डलीकरण के इस युग में वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की हलचलों को अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया है। आज के भूमण्डलीकरण और बाजारवाद ने जीवन के हर क्षेत्र को ज्यादा प्रभावित किया है।

भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारीकरण ने मानव की संवेदना से जुड़ी संस्कृति पर बाजारी और विज्ञापनी संस्कृति का वर्चस्व स्थापित किया है। आज के उपनिवेशवादी साँस्कृतिक परिदृश्य में भी एक तरह की बेबसी और लाचारी का भाव देखते हैं –

“यहाँ से दिखते हैं घरों के आँगन मुंडेर  
बरामदे भीतर रसोई तक  
पर पहचानना मुश्किल है अपना ही घर  
अपना ही मुहल्ला लगेगा अनजान  
खुदाई में निकली किसी लुप्त सभ्यता का ध्वंसावशेष।”

वैश्विक अर्थ-व्यवस्था की कोख से उपभोक्तावादी संस्कृति का जन्म हुआ। उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रतिरोध उनकी कविताओं की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। ‘हाट’ नामक कविता में कवि सभ्यता के वरण के सन्नाटे को पकड़ते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव जबर्दस्त होने के कारण उसमें किसी को पहचानना कठिन होता है –

“बाजार में बहुत सन्नाटा था।  
सारा संसार काँच के पर।।”

इसी प्रकार वैश्वीकरण और बाजारवाद से प्रभावित आज की संपूर्ण सभ्यता पर भी कवि ने समय-समय पर तीखी टिप्पणियाँ की हैं। इस प्रकार वर्तमान सभ्यता के प्रवाह में सभी बातें एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती हैं, जहाँ स्मृति का कोई भरोसा नहीं। आज के उपनिवेशवादी सभ्यता में लोग स्मार्टसिटी में जीने की इच्छा प्रकट करते हैं। उन लोगों से कवि अत्यंत संवेदनात्मक ढंग से पूछते हैं –

“कहाँ हैं वे खण्डित मूर्तियाँ  
कहाँ हैं वह आँख से छिटकी हुई ज्योति  
तटों पर बिखरा है मलबा।”

आज जीवन मूल्यों को छोड़कर बाजार सबसे बड़ा मूल्य बन गया है। मूल्य विघटन के दो प्रकार हैं-पहला, जीवन में मूल्यों का विघटन होता है और दूसरा जीवन में मूल्य विघटित होकर प्रवेश करते हैं। हासो-मुखी जीवन मूल्यों को अरुण कमल ने संवेदनात्मक ढंग से अपनी कविताओं में रेखांकित किया है। कवि जीवन-मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए अपनी कविताओं के माध्यम से जनमानस को आगाह करते हैं –

“समय बहुत कम है तुम्हारे पास  
आ चला पानी ढहा, आ रहा अकास  
शायद पुकार ले कोई पहचाना ऊपर से देखकर।”

आज के व्यक्ति की नैतिकता बाजार पर केंद्रित है। इस बाजारवादी मूल्य में आदमी एक मशीन की तरह घूम रहा है। बाजार में पूँजीवाद ने पुरानी मूल्य व्यवस्था को तोड़ दिया। आज के मूल्यहीन समाज में नए मूल्यों को खोजने का चित्रण ‘नए इलाके में’ नामक कविता में दिखाई देता है-

“धोखा दे जाते हैं पुराने निशान  
खोजता हूँ ताकता पीपल का पेड़  
खोजता हूँ ढहा हुआ घर।”

आज की महँगाई और आर्थिक ठहराव के कारण भारत की अर्थव्यवस्था संकट में है। आजादी के बाद भारत के हर क्षेत्र में विकास हुआ। बल्कि इस अर्थव्यवस्था के घोर संकट में आज के साधारण जनता को दो जून का भोजन मिलना कठिन हो गया है। महँगाई और आर्थिक ठहराव के कारण भूख से त्रस्त जनता को आज भी देख सकते हैं –

“हजारों वर्षों के बाद भी अतृप्त है इच्छाएँ  
आज भी सबसे बड़ी इच्छा है भरपेट अन्न।”

आज के आर्थिक ढाँचे में नमक से हींगहल्दी तक सब चीज कर्ज से उपलब्ध है। विश्व की इस संकटग्रस्त स्थिति को देखकर कवि कहते हैं कि –

“सब उधार का, माँगा चाहा। नमक, तेल, हींग हल्दी तक  
सब कर्जे का/यह शरीर भी उनका बँधक।।”

विश्वगाँव की परिकल्पना में मीडिया की भूमिका महत्वपूर्ण है। आज के बदले माहौल में मीडिया की बहुआयामी भूमिका है। सामाजिक विकास के प्रतिनिधि हैं आज के संचार माध्यम। जिंदगी के सभी आयामों को स्पर्श करने वाले संचार माध्यम आज सनसने समाचार के पीछे दौड़ते हैं। चौबीस घण्टे समाचार प्रसारित करने वाला बी. बी. सी. न्यूज चैनल भी है। आज प्रिंट मीडिया के समाचार भी बाजार के शर्तों पर आधारित है। अखबार सनसने समाचारों को प्रमुखता देकर छापते हैं। आँध्रप्रदेश के नक्सलवादी किशतगौड और भूमैया को फाँसी दे दी गई। आज के समाचार पत्रों के लिए यह खबर महत्वपूर्ण नहीं है –

“एक खबर जो कहीं नहीं थी  
किशतगौड को फाँसी हो गई  
एक खबर जो खबर नहीं थी  
भूमैया को फाँसी हो गई।”

इस तरह अरुण कमल की ‘ग्लोबल विलेज’ कविता में आज के वरिष्ठ नागरिकों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसका यथार्थ चित्रण किया गया है।

अरुण कमल ने आज के इस ‘विश्वगाँव’ में होनेवाली समस्याओं को अपनी कविताओं में यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान की है। वैश्वीकरण और बाजारवाद से प्रभावित विश्व का ढाँचा दिन-प्रतिदिन बदलता जा रहा है। वैश्वीकरण और बाजारवाद की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न साँस्कृतिक बदलाव, मूल्य परिवर्तन, राजनीतिक परिवर्तन मानवीय संबंधों में आये बदलाव का चित्रण अरुण कमल जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया है।

□ □

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,  
बिड़ला महाविद्यालय, कल्याण.

### इतने बदनाम हुए हम : नीरज

तन की हवस मन को गुनाहगार बना देती है  
बाग के बाग को बीमार बना देती है  
भूखे पेटों को देशभक्ति सिखाने वालों  
भूख इंसान को गद्दार बना देती है

वर्तमान समय के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि गोपालदास नीरज ने अपनी मर्मस्पर्शी काव्यानुभूति तथा सहज सरल भाषा द्वारा हिंदी कविता को एक नया मोड़ दिया। बच्चन जी के बाद उन्होंने नई पीढ़ी को सर्वाधिक प्रभावित किया। जनसामान्य की दृष्टि में प्रेम के अनन्य गायक व संत कवि नीरज राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के कथनानुसार हिंदी की वीणा हैं। गोपालदास सक्सेना 'नीरज' का जन्म ४ जनवरी १९२५ को ब्रिटिश भारत के संयुक्त प्रांत आगरा व अवध (अब उत्तर प्रदेश) में इटावा जिले के पुरावली गाँव में बाबू ब्रजकिशोर सक्सेना के यहाँ हुआ था। नीरज का असली नाम गोपालदास सक्सेना था। इनके भाइयों के नाम दामोदरदास, कृष्णदास थे। ये वैष्णव धर्म से संबंधित थे, इसलिए इनके सभी भाइयों के नाम इनकी माँ ने 'दास' पर रखे थे। नीरज कहते हैं, "जब मैंने कविता लिखना शुरू किया तो लोगों ने कहा कि गोपालदास से तो ऐसा लगता है जैसे कोई हलवाई हो। तब मैंने अपना उपनाम नीरज खुद ही रख लिया। नीरज नाम मेरे लिए ज्योतिष के अनुसार भी शुभ रहा।" दरअसल नीरज को ज्योतिष में गहरा यकीन रहा है, उन्हीं के शब्दों में, "मेरी ज्योतिष में भी रुचि है। मैंने अपना जब होरोस्कोप पढ़ा तो उसमें लिखा था विश्वविख्यात, ऐरावत पर सवारी करे। मुझे लगा कि जो बच्चा गरीब घर में पैदा हुआ है... खाने तक को भी नहीं था। जब विश्वविख्यात की बात पढ़ी तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि भाई ये कैसे हो सकता है। ...मैं ८३ में सबसे पहले अमरीका, कनाडा गया था। अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, लंदन, मॉरीशस जहाँ भी गया मुझे मेरी कविता सुनने वाले मिले।"

जब नीरज छह वर्ष के थे, तब ही इनके पिता की मृत्यु हो गई थी। इन्हें इनके फूफा जी के पास एटा पढ़ने के लिए भेज दिया गया। वहाँ से नीरज ने १९४२ में हाईस्कूल परीक्षा प्रथम श्रेणी

में उत्तीर्ण किया, जिसके बाद ट्यूशन पढ़ाना शुरू किया। नीरज ने घर का चूल्हा जलाने के लिए तांगा भी चलाया, बीड़ी-सिगरेट तक बेची। नीरज कहते हैं, "पेट पालने के लिए, अपनी भूख शांत करने के लिए कभी-कभी पान-बीड़ी भी बेचे सड़क पर बैठ कर। गंगा-जमुना में डूब-डूब कर पैसे भी ढूँढ़े, रिक्शा भी चलाया। क्योंकि मैंने कभी भी श्रम को छोटा नहीं समझा। श्रम का बड़ा मूल्य है। आप अगर पान-बीड़ी बेचें तो क्या बुरा करते हैं। आप रिक्शा चलाते हैं पर बेईमानी नहीं करते। ट्यूशन मैंने की, कोर्ट में बैठकर टाइप किया है।" कठिन परिस्थिति में भी नीरज ने पढ़ाई नहीं छोड़ी और नौकरी करने के साथ-साथ प्राइवेट परीक्षाएँ देकर १९४९ में इण्टरमीडिएट, १९५१ में बी. ए. और १९५३ में प्रथम श्रेणी में हिंदी साहित्य से एम. ए. किया।

संघर्ष ये तुमने दिखला दिया कि पौरुष के आगे  
मुश्किल को अपनी ही मुश्किल पड़ पाती है  
हिम्मत गर अपनी हारे नहीं मुसाफिर तो  
मंजिल खुद उसको बढ़कर गले लगाती है।

मेरठ कॉलेज में हिंदी प्रवक्ता के पद पर कुछ समय तक अध्यापन कार्य भी किया किंतु कॉलेज प्रशासन द्वारा उन पर कक्षाएँ न लेने व रोमांस करने के आरोप लगाये गये जिससे कुपित होकर नीरज ने स्वयं ही नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। वैसे नीरज शुरू से ही मान-अपमान की सीमाओं से परे रहे हैं। वे कहते हैं, "मान और अपमान हमें सब दौड़ लगे पागलपन की" जो भी कुछ मिलता गया अच्छा भी लगा और नहीं मिला तो बुरा भी नहीं लगा। दरअसल मेरी तबीयत फकीर जैसी है। इसलिए मुझे ज्यादा की कभी इच्छा नहीं रही। पर अनचाहे जो मिल गया ये शायद मेरे पिछले जन्मों का पुण्यफल है। अच्छा भी लगता है और कोई गाली भी दे जाए बुरा भी नहीं लगता।" अपने बारे में उनका यह शेर आज भी मुशायरों में फरमाइश के साथ सुना जाता है :

इतने बदनाम हुए हम तो इस जमाने में, लगेगी आपको सदियाँ हमें भुलाने में।  
न पीने का सलीका न पिलाने का शऊर, ऐसे भी लोग चले आये हैं मयखाने में।

कहा जा सकता है कि देश की आजादी के संघर्ष के खत्म होने के बाद नीरज भी जीवन संघर्ष से आजाद हो गये। आजादी के बाद १९५४ का वर्ष इनके लिए निर्णायक साबित हुआ। इसी वर्ष लखनऊ रेडियो स्टेशन से इन्होंने 'कारवां गुजर गया' गीत सुनाया। यह गीत ही नीरज का पर्याय बन गया। पहली बात तो यह कि यह गीत इसलिए लोकप्रिय हुआ क्योंकि कारवाँ गुजर गया गुबार देखते रहे जैसा गीत हिंदी या उर्दू में पहले लिखा नहीं गया। इस गीत को उस समय सारे हिंदुस्तान और पाकिस्तान में शोहरत मिली। तमाम कवि सम्मेलनों, मुशायरों में नीरज ने यह गीत पढ़ा। कश्मीर, बंबई और गोवा तक में इसे पढ़ा। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि इसकी लोकप्रियता का लाभ उठाने के लिए पिक्चर तक बनाई गई।

कवि-सम्मेलनों में अपार लोकप्रियता के चलते नीरज को बंबई के फिल्म जगत ने गीतकार



के रूप में नई उमर की नई फसल के गीत लिखने का निमंत्रण दिया जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। पहली ही फिल्म में उनके लिखे कुछ गीत जैसे कारवाँ गुजर गया गुबार देखते रहे और देखती ही रहो आज दर्पण न तुम, प्यार का यह मुहूरत निकल जाएगा बेहद लोकप्रिय हुए जिसका परिणाम यह हुआ कि वे बंबई में रहकर फिल्मों के लिए गीत लिखने लगे। फिल्मों में गीत लेखन का सिलसिला 'मेरा नाम जोकर', 'शर्मिली' और 'प्रेम पुजारी' जैसी अनेक चर्चित फिल्मों में कई वर्षों तक जारी रहा। वस्तुतः नीरज को जितनी ख्याति मिली है उसमें सबसे अधिक योगदान फिल्म का ही है, जिसे वे मुक्त कंठ से मानते हैं, "मैं मानता हूँ कि किसी भी व्यक्ति या कवि को विदेश तक पहुँचाने का श्रेय सिर्फ फिल्म के पास है। कारवाँ गुजर गया गीत मैंने एक बार १९५४ में लखनऊ रेडियो से पढ़ा था हिंदी कवि सम्मेलन में।"

उस समय पूरे देश में हिंदी कवि सम्मेलन बड़े प्रेम से सुने जाते थे। टी. वी. था नहीं तो उस समय उर्दू के मुशायरे व हिंदी के कवि सम्मेलन बड़े लोकप्रिय हुआ करते थे। मैं ओवर नाइट सारे देश में लोकप्रिय हो गया। क्योंकि पहली बार हिंदीवालों ने नया फ्रेज सुना था कि हिंदी का कोई कवि अपनी कविता में 'कारवाँ गुजर गया' जैसा शब्द बाँध दे। बाद में इसकी लोकप्रियता को भुनाने के लिए एक पिक्चर बनी १९६० में 'नई उमर की नई फसल' वे बोले हमें इसके लिए आपका ये गीत चाहिए। मैंने कहा कि भई मैं फिल्म में लिखता नहीं, आपको चाहिए तो ले लीजिए।"

लेकिन बंबई की जिंदगी से भी उनका जी बहुत जल्द उचट गया और वे फिल्म नगरी को अलविदा कहकर फिर अलीगढ़ वापस लौट आये। नीरज कहते हैं, "...फिल्मी दुनिया में लेखक और म्यूजिक डायरेक्टर का एक मेंटल एडजस्टमेंट हो जाता है। दोनों एक दूसरे की जरूरत व पसंद को समझने लगते हैं। ...रोज-रोज के एडजस्टमेंट मुझे रास नहीं आए।"

नीरज की कृतियाँ इस प्रकार हैं : 'संघर्ष' (१९४४), 'अंतर्ध्वनि' (१९४६), 'विभावरी' (१९४८), 'प्राणगीत' (१९५१), 'दर्द दिया है' (१९५६), 'बादर बरस गयो' (१९५७), 'मुक्त की' (१९५८), 'दो गीत' (१९५८), 'नीरज की पाती' (१९५८), 'गीत भी अगीत भी' (१९५९), 'आसावरी' (१९६३), 'नदी किनारे' (१९६३), 'लहर पुकारे' (१९६३), 'कारवाँ गुजर गया' (१९६४), 'फिर दीप जलेगा' (१९७०), 'तुम्हारे लिए' (१९७२), 'नीरज की गीतिकाएँ' (१९८७)। इन कृतियों ने नीरज को कई पुरस्कार दिलाये हैं, जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं : 'विश्व उर्दू परिषद', 'पद्म श्री' सम्मान (१९९१), 'यश भारती एवं एक लाख रुपए का पुरस्कार' (१९९४), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 'पद्म भूषण' सम्मान (२००७)। इन पुरस्कारों के अलावा नीरज को 'फिल्म फेयर' पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। नीरज जी को फिल्म जगत में सर्वश्रेष्ठ गीत लेखन के लिए उन्नीस सौ सत्तर के दशक में लगातार तीन बार यह पुरस्कार दिया गया। उनके द्वारा लिखे गये पुरस्कृत गीत हैं-सन् १९७० : 'काल का पहिया घूमे रे भइया।' (फिल्म : चंदा और बिजली), सन् १९७१ : 'बस यही अपराध मैं हर बार करता हूँ' (फिल्म :

पहचान), सन् १९७२ : 'ए भाई ! जरा देख के चलो' (फिल्म : मेरा नाम जोकर)।

नीरज पर अक्सर यह इल्जाम लगता है कि वह नास्तिक हैं। इसी बात को नीरज भी दोहराते हैं, "इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा जातिवाद। और बड़ा दुर्भाग्य ये कि आज के राजनेता फिर से जाति की ही राजनीति कर रहे हैं। जाति के नाम पर सबसे बड़ा पाप हुआ है इस देश में।" वे कहते हैं, "...धर्म एवं हतो हन्ति धर्मों रक्षति रक्षितः। मनु स्मृति का सूक्त है यह। क्या मतलब है इसका...? ये कि मरा हुआ धर्म तुमको मार डालेगा। और जीवित धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। तो कौन-सा मरा धर्म है और जीवित धर्म क्या है...? धर्म की अनुभूति थी। उसकी अनुभूति बड़े-बड़े संतों को हुई... ज्ञानियों को हुई... प्रज्ञापुरुषों को हुई... महात्माओं को हुई... गांधीजी को हुई... टैगोर को हुई... राम को हुई... कृष्ण को हुई... बुद्ध को हुई... मुहम्मद साहब को हुई। लेकिन बाद के लोगों ने तोते के समान उसको रटना शुरू कर दिया। तो आज जिस धर्म को लेकर तुम लोग चल रहे हो वो धर्म नहीं धर्म की लाश है...। उस लाश को जब तक घर से नहीं निकाला जाएगा तब तक संसार का कल्याण होने वाला नहीं है। आज का धर्म, धर्म नहीं, धर्म की लाश है...। लाश को कितने दिन रखा जाता है घर में? धर्म के नाम पर क्या हो रहा है...। धर्म तो दिखता ही नहीं है संसार में... धर्म होता तो ये सब हो रहा होता क्या...? कितने धर्म के नाम पर विचार बने संसार में उन्होंने क्या किया...? आदमी का खून बहाया और कुछ नहीं किया। जब तक इस धर्म की लाश को घर से बाहर नहीं निकालोगे तब तक संसार का कल्याण होने वाला नहीं है।" आगे वे कहते हैं, "मैं अपने आपको न हिंदू मानता हूँ, न मुसलमान, न कोई और धर्म में आस्था रखने वाला। सिर्फ मनुष्य...। कवि का धर्म सिर्फ मनुष्य बनकर अपनी कविता के माध्यम से मनुष्य तक पहुँचना है... इसके अलावा और कुछ नहीं जानता मैं धर्म के बारे में। मैं किसी धर्म में विश्वास नहीं करता। धार्मिकता में विश्वास करता हूँ मैं... धर्म में नहीं। धार्मिकता बड़ी चीज है... धर्म के नाम पर तो लोग तिलक भी लगाते हैं, पूजा पाठ भी करते हैं, अजान भी करते हैं... पर धार्मिकता बड़ी चीज है...।" और सही अर्थ में नीरज ने सिर्फ मनुष्य बनने की ही कोशिश की है,

जाति-पाति से बड़ा धर्म है।

धर्म ध्यान से बड़ा कर्म है...।

कर्मकांड से बड़ा मर्म है...।

मगर सभी से बड़ा यहाँ पर

ये छोटा सा इंसान है।

और अगर वो प्यार करे तो

धरती स्वर्ग समान है।

और नीरज ये भी कहते हैं,

अब तो मजहब कोई ऐसा भी चलाया जाए।

जिसमें इंसान को इंसान बनाया जाए।।

आग बहती है यहाँ... गंगा में झेलम में भी...।  
कोई बतलाए, कहाँ जाकर नहाया जाए।।

मेरा मकसद है ये महफिल रहे रौशन यूँ ही।  
खून चाहे मेरा दीपों में जलाया जाए।।

अब तो मजहब कोई ऐसा भी चलाया जाए।  
जिसमें इंसान को इंसान बनाया जाए।

मेरे दुख दर्द का तुझ पर हो कुछ असर ऐसा।  
मैं रूँ भूखा तो तुझसे भी न खाया जाए।।

जिस्म दो होकर दिल एक हैं अपने ऐसे...।  
मेरा आँसू तेरी पलकों से उठाया जाए।।

गीत गुमसुम हैं, गजल चुप है, रुबाई दुखी।  
ऐसे माहौल में नीरज को बुलाया जाए।।

कवि होना पूर्णता का प्रतीक है। आत्मा के सौंदर्य का शब्दरूप है काव्य। मानव होना भाग्य है, कवि होना सौभाग्य। नीरज को काव्य के संप्रेषण का मूलाधार भाषा की गहरी समझ रही है और यही उनकी लोकप्रियता की सबसे बड़ी वजह है। भाषा में जिस शालीनता, औदार्य को हम नीरज में पाते हैं वह अद्भुत है इसमें कोई शक नहीं। इनके सम्मेलनों में आम से खास जनों की बेतहाशा भीड़ लगती है। उनकी भाषा ऐसी है जिसे सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है, हिंदू समझ सकता है, मुसलमान समझ सकता है, क्योंकि वह प्रेम की भाषा है,

अपनी बानी प्रेम की बानी घर समझे न गली समझे।  
या इसे नंदलला समझे जी या इसे नंदलली समझे।  
हिंदी नहीं ये उर्दू नहीं ये है ये पिया की कसम  
इसकी सियाही आँखों का काजल दर्द की इसकी कलम  
लागे किसी को मिसरी सी मीठी कोई नमक की डली समझे।

वे कहते भी हैं, “...मेरी भाषा जो न हिंदी है न उर्दू है वह प्रेम की भाषा है। सबसे बड़ी चीज तो रही मेरी भाषा। वो भाषा जो हृदय की भाषा है। इसमें बनावट कहीं नहीं है। मेरे जीवन में भी

देखों बनावट कहीं नहीं है। आदमी अपने सृजन में नहीं छिप सकता। जैसा होगा वैसा ही सामने आ जाएगी।”

वस्तुतः नीरज जीवन के कवि हैं,

“प्रतिक्षण नूतन जन्म यहाँ पर

प्रतिक्षण नूतन मृत्यु है

देख आँख मलते-मलते ही बदल गया सब दाँव है।”

नीरज को आज भी कई लोग गवैया ही मान रहे हैं। नीरज ने ‘दिनकर’ से अपनी उस मुलाकात का जिक्र किया है, जिसमें राष्ट्रकवि ने उन्हें हिंदी की वीणा कहा था, “...तीन घंटे तक वो (‘दिनकर’) मुझे सुनते रहे। तो वे बोले-नीरज मैं तो तुझे गवैया समझता था लेकिन आज मुझे ये पता चला कि तू कविता का कितना बड़ा ज्ञानी है। आज आयोजकों से कह देना कि मैं तुम्हारे कार्यक्रम की अध्यक्षता करूँगा और स्वयं कविता नहीं पढ़ूँगा। मैंने आयोजकों से कहा कि दिनकर जी ने ये कहा है तो वे फौरन बोले कि इसमें क्या मुश्किल है। बाद में दिनकर जी उस कार्यक्रम में आए, उसकी अध्यक्षता की। वहीं उन्होंने कहा था कि नीरज हमारे देश की वीणा है।” राष्ट्रकवि ने तो मान लिया था कि नीरज हमारे देश की वीणा हैं, बाकी कब मानेंगे?

□ □

३डी, एलाईट एन्क्लेव,  
३२, मिलनपल्ली,  
कोलकाता-७०००७९

- डॉ. लवकुमार लवलीन

### बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाट्यालोचन

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही आधुनिकता के भावबोध, नई वैचारिक दृष्टि, चिंतन के विस्तार, कलात्मक परिष्कार, जनरुचि के अनुकूल साहित्य का सृजन, व्यावसायिक दृष्टि, चिंतन की उपेक्षा तथा स्वस्थ सृजनात्मकता की जो तीव्र विकासत्मक लहर उठी, उससे हिंदी नाटक और रंगमंच को भी नया स्वरूप, नई दृष्टि एवं नई प्रतिष्ठा मिली। जीवंत सम्मेषण माध्यम के रूप में अनायास रंगमंच का प्रचार-प्रसार हुआ और जाने-अनजाने ही नाटक की सृजनात्मकता अर्थात् रचना-प्रक्रिया के साथ नियमित रूप से उसका मंचीय प्रदर्शन भी शुरू हो गया। पारसी रंगमंच का प्रभाव नाटक के रचनात्मक और प्रस्तुति पक्ष से भी जुड़ा रहा किंतु व्यावसायिक दृष्टि से साहित्य का सृजन चूँकि कलात्मक मूल्य और सौंदर्य बोध की भावभूमि को संकुचित कर देता है, इसलिए रंगमंचीय दृष्टि से सफल नाटक भी कलात्मक दृष्टि से असफल हो गए और कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट नाटक मंच पर निरंतर असफल होते रहे। पारसी रंगमंच अर्थोपार्जन का एक नियमित साधन था जिसका सरोकार कलात्मक तथा रंग-नाटकों की सृजनात्मकता से नहीं था। हिंदी नाटक और रंगमंचीय प्रस्तुति संबंधी नवीन व्याख्याओं से स्पन्दित नाट्य-समीक्षाएँ अपने उत्स से कम जुड़े होने तथा मात्रा में भी कम होने के बावजूद नाटक की पहचान और परख, वैचारिकता, गुणवत्ता और कलात्मकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी। भारतेंदु और प्रसाद-युगीन नाट्यालोचन में नाटकीय तत्वों और निश्चित समीक्षकीय मानदंडों के अभाव के बावजूद रंगमंचीय प्रतिमानों से सन्निकटता का आभास है। नाटक का सैद्धान्तिक चिंतन एवं दर्शन जयशंकर प्रसाद में अधिक स्पष्टता, उत्कृष्टता एवं गंभीरता के साथ प्रस्फुटित हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने नाट्य-चिंतन में नाटक के प्रस्तुति पक्ष को विवेचित किया है और नाटक का मूल उद्देश्य चाक्षुष साक्षात्कार द्वारा किसी विशिष्ट उपदेश के सम्मेषण को ही माना है। इस समय तक नाट्य-समीक्षा के रूप में नाट्यकृति के मूल भाव एवं भाषा के गुण-दोषों का दिग्दर्शन, अभिनय पर टिप्पणी आदि ही प्रधान रहा जो प्राचीन परिपाटी का अनुवर्ती साबित हुआ। इसलिए एक ओर जहाँ नाट्यालोचन का रंगमंच से जुड़ जाने पर उसके आधार एवं प्रतिमानों में आवश्यक परिवर्तन आए, वहीं दूसरी ओर रसात्मक दृष्टि-बोध की प्रबलता नाट्य-दृष्टि के प्रसार में बाधक बन गई और रंगमंचीय परंपरा के

बावजूद नाट्य-समीक्षा की दृष्टि विभाजित हो गई।

साहित्य की सभी विधाओं में से सिर्फ नाटक में ही जीवंत रंगमंचीय माध्यम की अर्थात् दृश्यत्व की संश्लिष्टता का व्यापक गुण है। एक रंग-रचना के रूप में इसी दृश्यात्मक प्रकृति तथा प्रवृत्ति, रंगमंचीय तत्वों तथा प्रतिमानों की अनिवार्यता के कारण नाटक की आलोचना भी अलग होती है। मूल्यांकन की दृष्टि और प्रतिमानों के अन्वेषण द्वारा नाट्य-रचना की उन आंतरिक रंग-परिकल्पनाओं और दृश्य क्षमताओं का अनुसंधान किया जाता है जिस कारण एक रंग-रचना 'दृश्यकाव्य' होने की सार्थकता पाती है। नाट्य-समीक्षा प्रायः नाटक की रचना-प्रक्रिया से लेकर नाट्यानुभूति तक का क्षेत्र घेर लेती है और इसलिए वही नाट्यालोचक एक रंग-रचना का सही मूल्यांकन कर सकता है जिसमें नाटक की सृजनात्मकता से नाट्य-प्रस्तुति तक की प्रक्रिया को सूक्ष्मता से पकड़ने की क्षमता और नाट्यानुभूति को आत्मसात करने की व्याकुलता हो। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कृत प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन में काव्यशास्त्रीय उपादानों के आधार पर मूल्यांकन का प्रयास है जबकि प्रसाद के नाटकों के रंगमंचीय प्रतिमानों का अन्वेषण और रंग-संभावनाओं का विश्लेषण गौण है। इस प्रकार, काव्यशास्त्रीय उपादानों/संदर्भों के कठोर बंधन से मुक्त न होने की और पारंपरिक दायरे से बाहर न निकल सकने की स्थिति में लंबी अवधि तक रूढ़िग्रस्त नाट्य-समीक्षा की प्रबलता रही।

भारतेंदु से पाँचवें दशक तक का समय परिवर्तनकारी और बहुविध विकास प्रक्रिया से जुड़ा नहीं रहा और नाटक को 'दृश्यकाव्य' की तरह महत्व न देकर, मात्र साहित्य मानकर उसकी विशिष्ट क्षमताओं को भी केवल तत्वों से जोड़ने के कारण नाट्य-समीक्षा एकांगी रही। नाटक को निरा साहित्य मान लेने से समीक्षा भी बाह्य आयामों से जुड़कर भ्रामक निष्कर्षों तक पहुँच गई जबकि नाटक साहित्य भी है और रंगमंचीय कला भी। आज नाटक को रंगमंचीय विधा मानकर उसकी आंतरिक क्षमताओं और साहित्यिक धर्म को परखने की तैयारी है क्योंकि मात्र रंगमंचीय क्रियाकलापों तथा रंगावयवों के आधार पर ही नाटक को नहीं समझा जा सकता जब तक उसमें रचना-प्रक्रिया और साहित्य की मौलिक सृजनात्मक दृष्टि का समावेश न हो। इस तरह गंभीरता से नाटक की सृजनात्मकता, रचना-प्रक्रिया एवं रंगमंचीयता जैसे विषयों को उठाकर चिंतन करने वाले समीक्षकों का अभाव रहा।

हिंदी नाट्यालोचन की वैचारिक और चिंतनपरक विकासत्मक प्रक्रिया वस्तुतः दृष्टि संकुलता के कारण शिथिल रही। इसलिए विश्व साहित्य में भुवनेश्वर के नाटक सबसे पहले ऐम्बर्डीटी की अनुभूति देने के बावजूद आलोचना की असम्यक् प्रक्रिया एवं परस्पर सम्बद्धता के अभाव में उपेक्षित रह गए। भुवनेश्वर ने पाश्चात्य नाट्यकला एवं रंग-चिंतन को अपने मौलिक नाट्य-विधान में पचाने का प्रयास किया जो तत्कालीन नाट्य-समीक्षा के लिए चुनौती बन गई। भुवनेश्वर (गिरीश रस्तोगी) और भुवनेश्वर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (संपा. राजकुमार

शर्मा) में उनके समग्र मूल्यांकन का प्रयास है। लक्ष्मी नारायण मिश्र की रचना-मानसिकता पर बर्नाड शॉ और इब्सन की नाट्यकला और उनके विचारों को पाश्चात्य संदर्भों से प्रभावित मानकर उनकी मौलिक रचना-क्षमता तथा नाट्यधर्मिता पर भी प्रश्न-चिह्न लगाया गया। नाटक को रंगमंचीय कला के रूप में प्रतिष्ठा न मिलने और मन्द सैद्धांतिक चिंतन, व्यावहारिक अनुभवों का सीमित दायरा, नाटक में अंतर्निहित रंगमंचीय संभावनाओं की अनभिज्ञता तथा दृष्टि शून्यता, वैचारिक संकीर्णता, पूर्वाग्रहता तथा अपरिपक्वता के फलस्वरूप जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मी नारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा और उपेन्द्रनाथ अशक के नाटकों को साहित्यिक माना जाता रहा जबकि इनके नाटकों में रंगमंचीय संभावनाएँ विद्यमान हैं। सिद्धनाथ कुमार कृत प्रसाद के नाटक और सत्येंद्र कुमार तनेजा की पुस्तक प्रसाद के नाटक : पुनर्मूल्यांकन में आलोचना की नई शैली दिखाई देती है। रचना में गुणवत्ता की दृष्टि से वृद्धि हुई और रंग-नाटकों के सृजन से रंगमंच को बल मिला। रंग-प्रयोग और नाटक का रंगमंचीय मूल्य भी स्थिर हुआ किंतु नाट्य-चिंतन को रंग-संदर्भों से जुड़कर विकसित होने में विलंब हुआ क्योंकि नाटक के साहित्यिक मूल्य का निर्धारण रंगमंचीय मूल्यों से संबद्ध है। प्राचीन समीक्षा-पद्धति से मुक्त होने की छटपटाहट और नई दृष्टि के आग्रह की असमंजसपूर्ण स्थिति को ध्यान में रखकर चिंता व्यक्त की जाती रही किंतु किसी गंभीर समीक्षक व्यक्तित्व के अभाव से नाट्य-विधा अपने अपेक्षित प्रभाव से वंचित ही रही।

सन् साठ से पूर्व नाटक और नाट्य-समीक्षा के मध्य अंतर्विरोध, अस्पष्टता एवं अंतःसूत्रों की एकात्मकता का अभाव खटकता है जिसका मुख्य कारण रचनात्मक मूल्यों का हास, नाट्य-रचना की मौलिक दृष्टि का अभाव, पाश्चात्य प्रभाव-ग्रस्त रचना-मानसिकता और नाटक तथा रंगमंच की विभाजित दृष्टि है। सन् पचास तक के नाटकों में रंग-दृष्टि का अभाव दिखाई देता है। साहित्यिक और रंगमंचीय नाटकों की अकारण भ्रामक और तथाकथित मूल्यांकन दृष्टि की एकांगिता ने नाट्य-समीक्षा को दिशाहीन और दृष्टिहीन बना दिया। जब नाटक की रचनात्मक दृष्टि में ही उलझाव और भ्रामकता की स्थिति बनी रही तो नाट्य-समीक्षा स्वतः विवरणमूलक हो गई जिनमें रंग-तत्वों का विवेचन छूटता चला गया और काव्यशास्त्रीय उपादान का विश्लेषण प्रधान हो गया। इस प्रकार, आरंभ में नाट्य-समीक्षा का स्वरूप शास्त्रानुगामी, अस्पष्ट तथा एकांगी ही रहा और पत्रिकाओं तथा नाटक की भूमिकाओं के रूप में की जानेवाली टिप्पणियाँ प्रतिक्रियात्मक होने से नाटक के समग्र विवेचन में असमर्थ रही। पारसी थियेटर के प्रति नाट्य-चिंतकों की दृष्टि बहुत उदार न होने से प्रतिक्रियात्मक समीक्षाएँ ज्यादा लिखी गईं यद्यपि उनके रंग-विधान, नाट्यशैली एवं शिल्पगत रूढ़ियों से सभी प्रभावित थे। ऐसी समीक्षा-पद्धति का शास्त्रीय बंधनों, पूर्वाग्रहों और रूढ़ियों से मुक्त होना अनिवार्य भी था अन्यथा समीक्षा की नई कसौटी पर बाद में लिखित नाटकों के मूल्यांकन में कठिनाई होती। रघुवंश की नाट्यकला, नेमिचंद्र जैन कृत रंगदर्शन और नर नारायण राय की नाट्यरचना विधान और आलोचना के प्रतिमान जैसी पुस्तकों में ऐसा ही प्रयास देखा जा सकता

है। नई अनुभूति और संवेदना, प्रयोगान्वेषण की प्रवृत्ति एवं नवीन वैचारिक दृष्टि के साथ पांचवें दशक के बाद जो नाटक लिखे गए, उनकी पहचान और परख भी अपनी मूल्यांकन पद्धति में नवीनता तथा दृष्टि समग्रता की माँग कर रही थीं।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति के परित्याग और नई दृष्टि के ग्रहण के बीच नए चिंतन का आभास होता है। नाट्यालोचन के स्वरूप एवं प्रतिमान निर्धारित न होने के कारण यह समस्या बनी रही कि आखिर नाटक की समीक्षा का आधार क्या हो ? नाटक की समीक्षा में सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष पर पृथक-पृथक दृष्टि से विचार किया जाए अथवा समग्र दृष्टि से ? नाटक के आलेख-निबद्ध रूप की समीक्षा की जाय अथवा उसके रंगमंचीय स्वरूप की व्याख्या की जाए ? नाटक को विशुद्ध रंगमंचीय विधा मानकर उसके साहित्यिक मूल्य की परीक्षा की जाए अथवा विशुद्ध साहित्य मानकर उसके रंगमंचीय मूल्यों की परख की जाए अथवा दोनों की समन्वित दृष्टि से मूल्यांकन किया जाए ? ऐसे प्रश्नों तथा संदर्भों की अनुगूँज आज भी है, फिर भी आज की नाट्य-समीक्षा की एक दिशा और दृष्टि है जिसका अभाव सन् पचास से पूर्व आलोचना की दृष्टि समग्रता में बाधक बना रहा। सन् पचास के बाद नाटक की रचना-प्रक्रिया, नाटकीय स्वरूप एवं संरचना आदि से लेकर रंगमंच और नाट्य-समीक्षा तक में नए नए अनुभव गहराते हैं। नाट्य-समीक्षा की वैचारिक ऊष्मा से संबद्ध नाट्य-रचना की नवीन प्रवृत्तियों तथा नई रंग-शैलियों का उन्मेष होता है जिनमें पारंपरिकता का समाहार और दृश्यत्व की संभावनाओं से संपन्न रचना की भावभूमि तैयार करने का आग्रह है। इनकी स्वरूपगत और संरचनात्मक प्रकृति इतनी नई है, विषय-वस्तु और उसके सम्प्रेषण के लिए आयोजित दृश्य श्रव्य माध्यमों का इतना संतुलित विधान है कि काव्य-शास्त्रीय आलोचना की कसौटी पर इनकी समीक्षा अव्यावहारिक होगी। नाटक की रचना-प्रक्रिया में आया हुआ बदलाव भी नाट्य-प्रस्तुति से प्रत्यक्ष संबद्ध की अपेक्षा उसके सृजनात्मक पक्ष से ही जुड़ा रहा। नवीनतम तकनीकों से संपन्न आधुनिक मंच-व्यवस्था का अभाव भी रंग-दृष्टि के विकास में बाधक रहा। व्यावसायिक रंगमंच के विरुद्ध शौकिया रंगमंच की चेतना को पारसी थियेटर नष्ट करता रहा, फलस्वरूप रंग-चेतना की उत्तेजना शिथिल पड़ गई और गुणात्मक अभिवृद्धि एवं कलात्मक प्रगति के बाद भी मन बहलाव के लिए नाटक खेलने या देखने की स्तरीय मानसिकता के कारण रंग-नाटकों का सृजन नहीं हो सका।

नाट्यालोचन के प्रतिमानों का काव्यशास्त्रीय संदर्भों से संबद्ध होने और बाद में रस, रंग-तत्व और नाट्यरचना-विधान जैसे मानदंडों एवं मूल्यमानों तक सीमित होकर नाट्य-समीक्षा भी आधुनिक संवेदनाओं और नए युग की अनुभूति से लंबे समय तक जुड़ नहीं सकी। कभी प्राचीन और कभी पश्चिमी नाट्य दर्शन में अपेक्षित परिवर्तन कर मौलिक नाट्य-विधान पर नाटक लिखे जाते रहे जो समीक्षा की एक शर्त ही पूरी कर सके। किसी स्थिर मानदंड का अभाव, आलोचना कर्म की अधूरी समझ, नाट्य की एकांगी दृष्टि और समीक्षात्मक मूल्यमानों की अनिश्चितता जैसी समस्याओं से आद्यंत जुड़े रहने तथा समर्पित आलोचक के अभाव में

नाटक का रचनात्मक पक्ष भी क्षतिग्रस्त हुआ। नए नाटककारों ने नाट्य-चिंतन से कटकर नाट्य-विधान की पूरी समझ के अभाव में रंग-नाटकों के सृजन के अनुचित प्रयास का परिचय नहीं दिया। दूसरी ओर, आधुनिक आलोचक भी नाट्यशास्त्र के व्यामोह से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाए जो आधुनिक संवेदना के नितांत प्रतिकूल एवं युगीन दृष्टि से अनुपादेय थी। सन् साठ के बाद नाटक के मूल्यांकन और उसकी पहचान तथा परख की दृष्टि में आमूल बदलाव आया तथा नाट्य-विधा की नई समझ के साथ ही रंगमंच की निजी सत्ता स्थापित हुई। यहीं से हिंदी रंगमंच का प्रयोगान्वेषण हेतु संघर्ष शुरू हुआ और रंगमंचीय सार्थकता पाकर हिंदी नाटकों ने भी साहित्यिक विधाओं की प्रकृति से स्वयं को अलग कर अपनी विशिष्टता, जटिलता, कलात्मक तथा मौलिक प्रभाव क्षमता को स्थापित किया है। गिरीश रस्तोगी की पुस्तक बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच और सिद्धनाथ कुमार कृत नाट्यालोचन के सिद्धांत में इन संदर्भों पर पर्याप्त चर्चा की गई है।

दृश्य माध्यम होने के कारण नाट्य का गंभीर तात्त्विक अनुभव, समझ और नाट्यात्मक संभावनाओं की पकड़ नाट्यालोचक में होती है, साथ ही वह मात्र रंग-समीक्षक भी नहीं है। इसलिए आज समीक्षा-पद्धति में विविधता के बावजूद समीक्षा दृष्टि में वैचारिक और सैद्धांतिक समग्रता है। नाट्यरचना-प्रक्रिया से लेकर मंचीय-प्रस्तुति के मध्य तारतम्यता की स्थिति बनने से नाट्यालेख की समीक्षा के साथ ही प्रस्तुति समीक्षाएँ भी सामने आईं। नाटक को जीवन-संदर्भों और जीवन-मूल्यों से जोड़ते हुए, उसमें सम-सामयिकता की खोज करते हुए, दृश्यत्व की संभावनाओं को समझते हुए उसकी आंतरिक क्षमताओं को उभारना ही सही समीक्षा-कर्म है। यहीं से नाटककार और नाट्य-समीक्षक रंगमंच और प्रस्तुतीकरण की अन्तःप्रक्रिया से जुड़ जाता है। नाटक एक साक्षात् अनुभव है, इसलिए रंगमंचीय शर्तों को पूरा करनेवाला नाटक ही दृश्यकाव्य है। नाटक के स्थूल दृश्य अवयवों और रंगमंचीय प्रतिमानों के अन्वेषण में, रंग-प्रसंगों से जुड़ने के प्रयास में नाटक और रंगमंच की मूल्य अवधारणा में ही परिवर्तन आ गया। इधर, जयदेव तनेजा की हिंदी रंगकर्म दशा और दिशा, कन्हैया लाल नंदन कृत नाट्य परिवेश और रमेश राजहंस की पुस्तक नाट्य प्रस्तुति : एक परिचय आदि में न केवल नाट्य-प्रस्तुतियों की समीक्षाएँ हैं बल्कि नाटक की प्रस्तुति-प्रक्रिया पर विस्तार से चर्चा भी है। किंतु नाट्य-प्रस्तुति के साथ ही सीमित रह गईं और आलेख में अन्तर्निहित अन्य दृश्यात्मक परिकल्पनाओं का उल्लेख नहीं हो पाया अथवा मात्र अभिनयमूलक होने के कारण अन्य दृश्यावयवों एवं पहलुओं पर हावी हो गया है। नाटक के काव्य पक्ष की अपेक्षा आलेख की नाटकीयता पर विचार का अभाव बना रहा जिससे अभिनय, दृश्यत्व, संवादों का मूर्त प्रस्तुतीकरण और नाट्यानुभूति जैसे अनिवार्य पहलू उपेक्षित रह गए। इस प्रकार, अतियों से ग्रस्त नाटक और रंगमंच की तरह समीक्षकीय दृष्टि में और दृश्यत्व के गुण को अनिवार्य मानते हुए रंगमंचीय दृष्टि में विकास हुआ जिसने नए नाटकों की समीक्षा के लिए नई समीक्षा पद्धतियों, दृष्टियों तथा समीक्षकों की मानसिकता को बदलने में गंभीर भूमिका निभाई।

समग्रतः, सन् साठ से पूर्व नाट्यालोचन का कोई निश्चित आधार स्थिर न हो सकने, साहित्यिक नाटकों के लिए प्राचीन काव्यशास्त्रीय मानदंडों को प्राथमिकता देने और रंगमंचीय नाटकों को असाहित्यिक कहने का यह परिणाम हुआ कि अनेक रंगधर्मी नाटककार उपेक्षित रहे और उनकी रचनाओं पर आज नई दृष्टि से आलोचना की आवश्यकता समझी गई। यह नाट्यालोचन के बदलते मानदंडों, नई समीक्षकीय दृष्टि, नाट्य-रचना में अभिव्यक्त संश्लिष्ट जटिल अनुभूति और मूल्यांकों में आया हुआ गंभीर बदलाव था जिससे समझा जा सकता है कि किस प्रकार उचित मूल्यांकन दृष्टि और निश्चित प्रतिमानों में आया हुआ गंभीर बदलाव था जिससे समझा जा सकता है कि किस प्रकार उचित मूल्यांकन दृष्टि और निश्चित प्रतिमानों के अभाव में नाटक केवल एक साहित्यिक कृति भर बनकर रह जाता है जबकि उसकी दुहरी संभावनाओं की पहचान और परख अनिवार्य है।

आज नाटक और रंगमंच को एक सिक्के के दो पहलू के रूप में देखकर नाट्य-रचना और नाट्य-प्रस्तुति को परस्पर पृथक नहीं माना जा रहा है..। आधुनिक समीक्षा वास्तव में व्यावहारिक रूप से नाटक की जाँच पड़ताल कर ही लिखी जा रही है। नाटक के आलोचनात्मक इतिहास से संबंधित पुस्तकें विषय की विवेचनात्मकता तथा अन्वेषण के कारण इतिवृत्तात्मक हो गई हैं। हिंदी नाट्यालोचन के प्रति समर्पित, अपनी समीक्षकीय दृष्टि को रंगमंचीय अवधारणा से जोड़कर, प्रस्तुति के परिप्रेक्ष्य में सैद्धांतिक चिंतन के साथ नवीन रंग-दर्शन की प्रवृत्ति, नाट्यालोचन के लिए अभिनय और भाषा, शिल्प एवं अनुभूति, नाटक की रचना-प्रक्रिया एवं नाट्य-विधा की विधानगत व्याख्याओं का प्रतिपादन करते हुए महेश आनंद (कहानी का रंगमंच), डॉ. सत्येंद्र कुमार तनेजा (प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन) और डॉ. सुंदरलाल कथूरिया (प्रसादोत्तर हिंदी नाटक : आस्वाद के धरातल) की एकाधिक कृतियों से आलोचना की नवीन दृष्टि के साथ एक प्रासंगिक कार्य आरंभ होता है। एकनिष्ठ भाव से नाटक की समन्वित समीक्षा पर बल देते हुए नए प्रतिमानों की स्थापना और निर्धारण के लिए प्रयत्नशील, रंगमंच को नाटक से अभिन्न मानते हुए और रंगमंच की तलाश नाटक से बाहर न कर नाटक में ही रंग की स्वायत्तता की पहचान पर जोर देकर नाट्यरचना-विधान और नाट्यानुभूति की विशिष्ट समझ के साथ नाट्य-समीक्षकों ने उल्लेखनीय कार्य किया है। नाटक की समीक्षा करते समय ज्वलंत प्रश्नों को उठाने के साथ ही दृश्यकाव्य की व्यापकता को समझने का प्रयास नाटक के रंगमंचीय प्रतिमान, हिंदी नाटक इतिहास के सोपान, नई रंग चेतना और हिंदी नाटककार जैसी पुस्तकों में देखा जा सकता है। इनमें नाटक की सैद्धांतिक विवेचना के साथ ही पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में सम-सामयिक आलोचना-कर्म तथा परिवर्तित प्रतिमानों को उद्घाटित किया गया है, वहीं नाटक की प्रदर्शन कला के विविध पक्षों एवं प्रस्तुति से संबंधित व्यावहारिक चिंतन भी सामने आए हैं। अन्य विद्वानों ने भी नाटक को जीवंत अनुभव से संपन्न रंगमंचीय कला माना है जिनके नाट्य-चिंतनों एवं तर्कपूर्ण तथ्यों से उन भ्रांतियों का सहज निराकरण होता है जो नाट्य-समीक्षा के समय उपस्थित हो सकती हैं क्योंकि इनकी समीक्षा दृष्टि नई,

व्यावहारिक तथा नाट्य स्थापनाओं के अनुकूल होने के साथ ही सूक्ष्म, तार्किक एवं सारगर्भित है।

साठोत्तर हिंदी नाट्यालोचन की कई प्रवृत्तियाँ तीव्रता से उभरकर प्रयोगान्वेषण की प्रवृत्ति, नई समझ और अनुभव के साथ कई दिशाओं की ओर अपनी दृष्टि फैलाने लगी है। सैद्धांतिक स्थापनाओं के संदर्भ में और व्यावहारिक पक्ष पर विचार करते हुए रचना-दृष्टि के फैलाव, नाट्य-विधान के अनुपालन, रंग-तत्वों के विवेचन एवं उनकी महत्ता तथा प्रासंगिकता के साथ ही नई विचारधाराओं और मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में स्थापित सिद्धांतों को परिपुष्ट करने का प्रयास करते हुए भारतेन्दु की रंग परिकल्पना, नाटककार जगदीश चंद्र माथुर, हिंदी नाटक और लक्ष्मी नारायण लाल की रंगयात्रा, आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश, सुरेंद्र वर्मा के नाटकों की रंगमंचीयता, रंगधर्मी नाटककार शंकर शेष, भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना, गोविंद चातक के नाटक और नाटककला, सुदर्शन मजीठिया : एक रंगयात्रा, नरेंद्र मोहन का नाट्य-कर्म, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की नाट्य साधना, रांगेय राघव की नाटककला आदि आधुनिक नाटककारों पर प्रकाशित पुस्तकों में नाटक के मूल्यांकन, उसकी पहचान और परख की नई दृष्टि और समीक्षा-पद्धति की नई प्रकृति विकसित हुई है। यहाँ नाटक की संवेदना और शिल्प, सृजन और संवाद, व्यक्ति और रचना, रचना-मानसिकता एवं रंगधर्मिता का उद्घाटन किया गया है और अधिकतर पुस्तकें प्राचीन समीक्षा-पद्धति के बहिष्कार एवं आधुनिक संवेदनाओं को लेकर ही सामने आई हैं। नाट्य-समीक्षा की ऐसी ही एक प्रवृत्ति कोणार्क : रंग और संवेदना, आषाढ़ का एक दिन : विवेचन और विश्लेषण, लहरों के राजहंस : विविध आयाम, आधे अधूरे : संवेदना और शिल्प तथा अंधायुग : पाठ और प्रदर्शन आदि नए नाटकों पर भी नई समीक्षकीय दृष्टि के साथ लिखी गई पुस्तकों में दिखाई देती है।

हिंदी नाटकों पर पड़े पाश्चात्य नाट्य-चिंतन, दर्शन एवं नाटककला के गंभीर प्रभावों और उसके परिणामों तथा महत्व के सूक्ष्मांकन के साथ रचना-प्रक्रिया से लेकर समीक्षा-प्रक्रिया तक में उन तत्वों के आंतरिक प्रभावों का अंतर्विश्लेषण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी विकसित हुई है। ऐक्सर्ड नाट्य-परंपरा और असंगत नाटक और रंगमंच जैसी पुस्तकों में पश्चिम में अस्तित्ववाद से उभरे ऐक्सर्ड नाट्यांदोलन एवं उससे विकसित नाट्य दर्शन को पूरी सूक्ष्मता से रेखांकित किया गया है। हिंदी नाटक उद्भव और विकास, आधुनिक हिंदी नाटक : चरित्र-सृष्टि के आयाम, नया नाटक उद्भव और विकास, साठोत्तर हिंदी नाटकों में स्त्री-पुरुष संबंध, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक, आधुनिक हिंदी नाटक, आधुनिक हिंदी नाटकों में संघर्ष तत्व, साठोत्तर हिंदी नाटक : कथ्य चेतना जैसे सैकड़ों शोध-ग्रंथों के नवीन तथ्यपरक अन्वेषणों और गवेषणाओं के क्रम में नाटक का मूल्यांकन किसी विशेष विषय या प्रवृत्ति को केंद्र में रखकर की गई है जिससे समीक्षा-दृष्टि को विस्तार और गहराई मिली है। इनमें विषय-केंद्रित वैचारिक प्रयास, आलोचना दृष्टि की नवीनता, चिंतन की गंभीरता और मौलिकता के साथ अधुनातन प्रवृत्तियों को पकड़ने का प्रयास है। नाट्य-रचना और रंगमंच में नित्य नए प्रयोग होने, प्रतिमानों

के अन्वेषण तथा निर्धारण, भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य के तत्वों का समन्वय कर, शास्त्रीय समीक्षा में उसके वैशिष्ट्य को अपेक्षित महत्व न देते हुए रंगानुभूति के आधार पर इन ग्रंथों की स्थापनाएँ टिकी हुई हैं। हिंदी एवं हिंदीतर प्रदेशों के लोकनाट्यों पर रचित पुस्तकों से व्यापकता बढ़ी है और लोकनाट्यों से जुड़कर समीक्षा को लोक-कलाओं द्वारा जीवन से जोड़ने के प्रयास जैसी प्रवृत्तियाँ नाट्यालोचन में दृष्टि विस्तार तथा गहराई का संकेत देती है।

नाट्य-समीक्षा की इन प्रयोगात्मक प्रवृत्तियों से वैचारिक गहराई, पैनापन, फैलाव एवं सूक्ष्मता तथा चिंतन-दृष्टि की मौलिकता का आभास होता है क्योंकि यहाँ नाटकों को उसकी समग्रता में परखने का प्रयास है। यह भी अनुभव किया गया है कि कालगत प्रवाह में रचना कभी पुरानी नहीं पड़ती और उसका कलात्मक मूल्य फीका नहीं पड़ता बल्कि रचना अपनी शैली एवं शिल्प, कथ्य एवं संवेदना के साथ सौंदर्य में भी जीवित रहती है। नाटक की रचना-प्रक्रिया, उसकी कलात्मकता एवं आंतरिक सौंदर्य, नाट्यानुभूति, भाव एवं विचार वस्तुतः कथ्य की अनुभूति द्वारा अभिव्यक्त होती है क्योंकि रंगमंच वास्तव में नाटक के कथ्य से ही अपना स्वरूप पाता है। आज नाट्यालोचन के प्रतिमान तथा सिद्धांतों की समझ विस्तार पा रही है, समीक्षकीय दृष्टि में बदलाव तथा नयापन आने से नाटक की समीक्षा उसकी रंगमंचीयता के संदर्भ में की जाने लगी है। इन समस्त उपलब्धियों और सीमाओं के प्रति आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि अब आलोचना-कर्म पूर्ण निष्ठा एवं दायित्व बोध के साथ निभाया जा रहा है। नाटक के विचार पक्ष के साथ ही वस्तु-विधान, रूप-विधान, नाट्य-विधान और रंगमंचीय पक्षों पर स्वतंत्र विचार मिलते हैं। इस समय नाटक और नाट्य-समीक्षा परस्पर सहयोग के साथ संतुलन बनाते हुए और अंतर्विरोधों से टकराते हुए गतिमान है और उनमें दृष्टि समग्रता का भाव है। कथा और कथ्य, संवेदना और शिल्प, शैली और बिम्ब, दृश्यत्व और सम्प्रेषण, नाट्यानुभूति आदि अनिवार्य तत्वों के आधार पर नाटक के मूल्यांकन का प्रयास आज भी नाट्य-समीक्षा की अनिवार्यता बन गई है।

आज नाट्यात्मक अनुभूति को एक विशेष प्रकार की काव्यानुभूति मानने का आग्रह है और समस्त नाटकीय संयोजन एवं रूपबंध को नियंत्रित करने के कारण नाट्यरचना-विधान को दृश्यत्व स्वीकार किया गया है। यहीं नाटक को सामूहिक कला मानते हुए उसे आम जन-जीवन से जोड़ने और इसके समूहगत सम्प्रेषण पर भी विचार मिलते हैं। हिंदी नाट्यालोचन को व्यवस्थित रूप देने और नाटक तथा रंगमंच संबंधी सवालों पर विचार-विमर्श के साथ ही रंग आंदोलन को नई दृष्टि तथा आधार देने में छायानाट, रंगयोग, नटरंग, मधुमती, प्रकार, रंग भारती, साक्षात्कार, समीक्षा, सेतु, रंगप्रभा, रंग प्रसंग, आजकल, रंग अभियान, भाषा जैसी पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है जिनमें नियमित रूप से प्रकाशित समीक्षाओं तथा आलोचनात्मक निबंधों से नाट्य-रचना की नई विकसित प्रवृत्तियों का आभास और नए अन्वेषणों की सूचनाएं मिलती हैं। आज रंगमंच की निजी सत्ता स्थापित होने के बाद नाटक की रचनात्मकता और उसकी स्थूल-सूक्ष्म दृश्य तत्वों के आधार पर मूल्यांकन का प्रयास हो रहा है जो नई दृष्टि से

संपन्न होकर शास्त्रीय कलेवर से मुक्त होने का संकेत देती है।

आज नाट्य-समीक्षा के बहुविध विस्तार होने से नाटकों का मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन हो रहा है, वैसी स्थिति में ऐसे प्रयासों की आवश्यकता है जिससे नाटक और रंगमंच की अविभाज्यता, संश्लिष्टता और अन्योन्याश्रयता पूर्णतः सिद्ध हो और नाट्य-समीक्षा से रंगमंच की दूरी घट सके। नाट्यालोचन की नई दिशा एवं नए आधार सृजित करने की ओर आधुनिक समीक्षक प्रयत्नशील हैं; क्योंकि उनमें नाटक की आलोचना का सामर्थ्य और नाटककार की तथाकथित नाट्यानुभूमि एवं संवेदनाओं को उद्घाटित करने की कला है। उनकी समीक्षकीय दृष्टि में नाटक और रंगमंच की परस्परता तथा नाट्यानुभूति की विशिष्टता के साथ ही नाट्य-विधान के अनुशासन को स्वीकार करने की प्रवृत्ति है, क्योंकि उन्होंने माना है कि हर नाटक अपना रंगमंच अपने साथ लेकर सृजित होता है यानी रंगमंच मूलतः नाटक के अंदर छिपा होता है बिल्कुल शरीर में आत्मा की तरह। उनमें रंगमंच को नाटक का मूर्त रूप मानने का आग्रह और मूल्यांकन दृष्टि की अपेक्षित गहराई एवं रंगकर्म की नई उत्तेजना भी है। नाटक, रंगमंच और नाटककार को एक वैचारिक सूत्र में बाँधकर मूल्यांकन करते हुए नाट्य-समीक्षक अपनी नई दृष्टि का परिचय दे रहे हैं। नए नाटकों की नई समीक्षा का वैचारिक और सैद्धांतिक आधार आज बहुत विस्तृत तथा व्यापक हो गया है, इसमें संदेह नहीं है।

□ □

- गढ़बनैली, पूर्णिया (बिहार) ८५४३२५

## कहानी

● सुशांत सुप्रिय

### एक कहानी अलग-सी (उर्फ गनेशी की कथा)

कहानी की शुरुआत कैसे की जानी चाहिए? मैं इस कहानी की शुरुआत 'बंस अपान अ टाइम, देयर लिवड् अ पर्सन नेमड् गनेशी' वाले अंदाज में कर सकता हूँ। या मैं कहानी की शुरुआत तिरछे अक्षरों (इटैलिक्स) में लिखे कुछ धमाकेदार वाक्यों से कर सकता हूँ।

मसलन-नींद और जागने की सीमा-रेखा पर स्थित है यह कहानी। अंत और शुरुआत के बीच की सँधि है यह कहानी। ढलती हुई शाम और रात के बीच एक ऐसा समय आता है जब धरती कुछ कहना चाहती है, आकाश कुछ सुनना चाहता है। वही कथन है गनेशी की यह कहानी।

या मैं कहानी के शुरु में ही नींद और सपनों का 'हेडी कॉकटेल' बनाकर पाठकों को पिला सकता हूँ जिसे पीते ही पाठक नशे में आ जाएँ।

मसलन-कुछ कहानियाँ, कहानियाँ नहीं होतीं। अधमिटे अक्षर होते हैं। अस्फुट ध्वनियाँ होती हैं। गनेशी गहरी नींद में कोई सपना देख रहा होता है। सपने में एक आदिम जंगल है। हवा में सड़ रहे पत्तों की गँध है। दूर कहीं एक नारी स्वर कोई भूला हुआ गीत गा रहा है। अरे, यह आवाज तो उसकी पत्नी की है। बदहवास-सा गनेशी उस आवाज का पीछा करता है। उसे एक खंडहर नजर आता है। उसमें पीली रोशनी है। किंतु जैसे ही गनेशी वहाँ पहुँचता है, अचानक वह रोशनी बुझ जाती है। गीत बंद हो जाता है। भुतहा अंधेरे के अथाह समुद्र में गनेशी किसी थके हुए डूबते तैराक-सा हाथ पैर मारने लगता है। अचानक उसकी नींद टूट जाती है। या शायद पहले वाली बात कल्पना में सोची गई थी। अब वह नींद में है। उसके चारों ओर काली धुँध है। धुँध के उस पार उसकी पत्नी हँस रही है- 'मुझे पकड़ो तो जानूँ'। या शायद गनेशी किस्तों में सपना देख रहा है। अब अगली किस्त-भुतहा खंडहर घुप अंधेरे की चादर आढ़े सोया हुआ है। गनेशी का दिल धक्-धक्, धक धक कर रहा है। तभी दिल को दहला देने वाली एक नारी की चीख उसका खून जमा देती है...

या मैं कहानी की शुरुआत एक अद्भूत नॉस्टेल्जिया और फ्लैश बैक से कर सकता हूँ जिसे पढ़ते ही पाठक अतीत में खो जाएँ।

मसलन-तो उस गाँव में एक घर है। उसमें एक बच्चा रहता है। वह तितलियाँ और जुगनु पकड़ता है। चिड़ियों के पंख इकट्ठा करता है। कुत्ते-बिल्लियों के बच्चों से खेलता है। इंद्रधनुष देखकर किलकता है। पुआल के ढेर में छिप जाता है। गाँव के कुएँ पर नहाता है। एड़ियाँ उठाकर गाँव के मंदिर की घंटियाँ बजाता है। साइकिल के टायर लुढ़काता है। कंचे और गिल्ली-डंडा खेलता है। गाँव के तालाब में चपटे पत्थर से 'छिछली' खेलता है। गाँव के पास बहती नदी में मछलियाँ पकड़ने जाता है। गाँव के आम, अमरूद और जामुन के पेड़ों पर चढ़कर उनके फल खाता है। अपने हम उम्र साथियों के साथ पतंग उड़ाता है। देखिए, अब वह हाथ में एक लंबी टहनी लिए चला जा रहा है। उसके दूसरे हाथ में एक लूटी हुई पतंग है। उसके हाथ-पैर धूल से सने हैं किंतु उसके चेहरे पर विजेता की मुस्कान है। दूर जाती हुई उसकी पीठ बड़ी जानी पहचानी लग रही है। एक और पतंग लूटता हुआ अब वह आँखों से ओझल हो गया है। यही हमारा नायक गनेशी है।

या मैं कहानी की शुरुआत इस तरह कर सकता हूँ –

दरअसल यह पूरी कहानी काल्पनिक है। इस कहानी का नायक गनेशी और अन्य सभी पात्र काल्पनिक हैं। इन काल्पनिक पात्रों की सभी स्थितियाँ काल्पनिक हैं। इन सभी स्थितियों से जुड़ी सभी घटनाएँ काल्पनिक हैं। इन सभी घटनाओं के घटने की सभी जगहें काल्पनिक हैं। किसी भी जीवित व्यक्ति, वास्तविक घटना या असली जगह से इस कहानी का कोई लेना-देना नहीं है। यदि ऐसा कोई साम्य पाया जाता है तो यह महज आकस्मिक है, इतिहास है। असल में यह पूरी कहानी इतनी काल्पनिक है, इतनी काल्पनिक है कि अक्सर इसके वास्तविक होने का भ्रम हो जाता है। यह भ्रम ही इस कहानी की जान है। यह भ्रम ही इसे हमारा-आपका जीवन बना देता है।

या फिर मैं यह कहानी इस तरह शुरू कर सकता हूँ –

ईसा की मृत्यु के बाद की इक्कीसवीं सदी के दसवें वर्ष के चौथे माह की इक्कीसवीं तारीख को हमारे नायक गनेशी के साथ यह घटना घटी...

तो गनेशी हमारे गाँव का डाकिया है। उम्र लगभग पैंतीस की होगी लेकिन अब तक उसकी शादी नहीं हुई। सिर के बीच में थोड़ा गँजा होता जा रहा है। कनपटी के कुछ बाल पकने भी लगे हैं। हँसी के कुछ प्राचीन कतरे उसके चेहरे की लकीरों में ऐसे जमा हैं जैसे मंगल ग्रह पर नहरों जैसे सूखे गड्ढों के उपग्रह द्वारा भेजे गए चित्र देखकर वैज्ञानिक यह अंदाजा लगाते हैं कि कभी वहाँ पानी रहा होगा। कुछ लोगों का मानना है कि गनेशी बचपन में भी ऐसा ही रहा होगा। शायद पैदा भी ऐसा ही हुआ होगा। क्या वह पिछले जन्म में भी ऐसा ही दिखता था?

दरअसल गनेशी इसी गाँव का रहने वाला है। दसवीं पास करके यहीं डाकिया लग गया है। गाँव की सीमा पर केले के पेड़ों से घिरा उसका घर है। हालाँकि देखने पर लगता है जैसे उसका घर पँख लगा कर उड़ने को बेताब हो। जैसे उसका घर गाँव के मन में एक सुंदर सी कल्पना हो।

तो गनेशी को कोई डाक-बाबू, कोई चिट्ठी-बाबू और कोई डाकिया-बाबू कह कर बुलाता है। पास के कस्बे के डाक-घर से गनेशी गाँव की डाक लेकर रोजाना आता है। छुट्टी और रविवार का दिन छोड़कर। गाँव में किसी का मनीआर्डर हो, चिट्ठी हो, रजिस्ट्री हो या पार्सल हो-सब बाँटने की जिम्मेदारी गनेशी की है।

अपने कान के ऊपर कलम खोसे हुए गनेशी किसी को चिट्ठी पढ़कर सुना रहा है, किसी को मनीआर्डर के पैसे देकर कागज पर उससे अँगूठा लगवा रहा है। पसीने से तरबतर गनेशी किसी के दरवाजे पर रुककर लोटा-दो लोटा पानी पीकर अपनी प्यास बुझा रहा है। वह बरगद के पेड़ के पास बने चबूतरे से अपनी साइकिल टिका कर चबूतरे पर सुस्ता रहा है। यह सब उसका रोज का काम है। सबका हाल-चाल पूछता हुआ गनेशी साइकिल की घँटी टुनटुनाता हुआ चला जा रहा है।

गाँव की सारी गाय, भैंसों और बकरियाँ गनेशी को पहचानती हैं। उसे देखते ही गाँव के बैलों की आँखों में भी 'राम-राम भैया' का भाव आ जाता है। गाँव के कुत्ते उसकी साइकिल के साथ-साथ चलते हुए उसे 'गार्ड-ऑफ ऑनर' जैसा कुछ देते प्रतीत होते हैं।

गाँव के लोगों के लिए गनेशी उन्हें गाँव के बाहर की दुनिया से जोड़ता है। उनके और उनके प्रियजनों के बीच वह एक संदेशवाहक का काम करता है। गाँव वालों के बीच उसकी एक जगह है। उसका एक दर्जा है।

गनेशी की शादी नहीं हुई तो क्या हुआ। कल्पना में वह अपनी पत्नी की छवि गढ़ लेता है। उससे हँसी-ठिठोली करता है। रूठना-मनाना चलता है। बतरस होता है।

गाँव भर की चिट्ठियाँ बाँटने के बाद वह बरगद के पास वाले चबूतरे की छाँह में आराम से पसर जाता है। सिर पर गमछा लपेटे आते-जाते लोग 'राम-राम चिट्ठी बाबू' कहते हैं। गनेशी कभी हाथ हिला देता है, कभी खयालों में गुम रहता है। कभी जागती आँखों से सपने देखता है। कभी नींद की खुमारी में पड़ा रहता है।

तो हमारा खयाली राम गनेशी अपने समय की नदी में बह रहा है। उसके चारों ओर लौह-मृदंग-सी बजती हुई कर्कश दुपहरी है। लेकिन उसके सपने में शोखी घुली हुई है। उसके भीतर बारिश की फुहार छाई हुई है। सपने में वह सीटी बजाता हुआ मुकेश का कोई मस्त गीत गुनगुना रहा है- 'रुक जा ओ जानेवाली रुक जा, मैं तो राही तेरी मंजिल का...।'



अब वह घर पर है। उसकी पत्नी उसके पैर दबा रही है। उसके तन-मन की गाँठें खुलती जा रही हैं।

“आज उदास क्यों लग रही हो ?” गनेशी पूछता है। पूर्णिमा का चाँद भी उदास हो सकता है, पत्नी को देखकर वह पहली बार सोचता है। कहीं उसकी पत्नी के मन के आकाश में कोई झंझावात, कोई चक्रवात तो नहीं आ रहे ?

“चलो, आज तुमको सिनेमा दिखाता हूँ।” वह कहता है।

पत्नी बच्चे-सी खुश हो जाती है। गनेशी के चेहरे पर मुस्कान आ जाती है। पानी पर चलने का रहस्य यह जानने में है कि पानी में पत्थर कहाँ-कहाँ हैं – यह सोचता है।

वह एक ठहरा हुआ लंबा पल है।

धरती से आकाश तक फैला हुआ।

तन से मन तक फैला हुआ।

गतिहीन। शोरहीन। शब्दहीन।

चुप्पी के ताल में गनेशी ने एक छोटा-सा कंकड़ फेंका। वह बोला – लीना। पत्नी बोली हूँ। गनेशी बोला – तुम मेरी हो। पत्नी ने कहा – मैं तुम्हारी हूँ। गनेशी ने पूछा – तुम्हारा नाम क्या है? पत्नी बोली – लीना। गनेशी ने कहा – करीना? पत्नी बोली – ल से लीना। गनेशी बोला – क से करीना? पत्नी ने पूछा – बताओ, मेरा नाम क्या है? गनेशी बोला – जानेमल। पत्नी बोली – धत! गनेशी कुछ नहीं बोला। उसने पत्नी को चूम लिया। पत्नी लाज की चाँदनी में सिमट कर छुई-मुई हो गई।

गनेशी को फिर से शरारत सूझती है। वह धीरे से पत्नी की देह में गुदगुदी कर देता है। पत्नी के शरीर का अंग – अंग हँसने लगता है। उसके गले के नीचे की स्वस्थ गोरी गोलाइयाँ थिरकने लगती हैं। वह पत्नी को बाहों में भर लेता है। पके हुए शहतूत-सी मीठी और मादक है उसकी देह से उठती गंध। उसका मन किशोर कुमार अँदाज में गा उठता है- ‘‘रात कली इक ख्वाब में आई, और गले का हार बनी...।’’

गनेशी चाहता है कि यह पल यहीं रुक जाए। इस समय दुनिया की सबसे खूबसूरत स्त्री उसके पास है। उसकी छाती के बालों में है। उसकी उंगलियों के स्पर्श में है। उसके होठों के स्वाद तले है। उसकी शिराओं और धमनियों में है। जैसे सबसे ज्यादा चमकता हुआ नक्षत्र उसके आकाश में है। उसकी पत्नी एक गहरी नीली झील है। अब वह उसमें डूब गया है। वहाँ आग की लपटें हैं। अब वह उनमें खो गया है। उसके सामने एक सुंदर पेंटिंग है। अब वह उस पेंटिंग में प्रवेश कर गया है। उसकी पत्नी छिपे हुए खजाने का प्रवेश-द्वार है। अब वह उस खजाने में गुम हो गया है। अजंता-एलोरा की गुफाओं में पहली बार आए किसी पर्यटक सा विस्मित और अवाक। बिन पिए ही अब वह नशे में है। सपने के भीतर कितनी हसीन लग रही

है उसकी दुनिया।

जैसे जीवन के निर्जन बियाबान में उसकी पत्नी एक हरा संकेत है। वह पहाड़ों के शिखर पर नाचता सूर्योदय का उत्सव है। वह पके हुए सिंदूरी आमों की मादक खुशबू है। वह एक ऋचा है आकाश तक जाती हुई। वह जैसे सप्त स्वर में बजता हुआ एक पियानो है। वह जैसे फौलाद और चाशनी की एक डोरी है गनेशी से बँधी हुई। वह जैसे पिघले हुए सोने की बहती नदी है। वह जैसे एक ताजा खिला फूल है गनेशी के जीवन की क्यारी में।

गनेशी अब अपनी पत्नी को ‘हनीमून’ के लिए पहाड़ पर ले गया है। वहाँ गुनगुनी धूप है, क्वॉरी हवा है, अपने वैवाहिक जीवन के ब्रह्माण्ड को बार-बार नापने की तमन्ना लिए अपने भीतर की धुरी पर टिका हुआ वह है और निश्चल मुस्कान की फुलझड़ी बिखेरती उसकी पत्नी है। गनेशी उन दोनों के रिश्तों के गुप्त झरने ढूँढने निकला है।

अचानक गनेशी को याद आता है कि आज वह डाक-घर जाकर चिट्ठियाँ छाँटना तो भूल ही गया है। वह अपनी पत्नी को वहीं छोड़कर डाक-घर की ओर भागता है। पूरे गाँव में हर घर के लिए चिट्ठी आई है। केवल उसके पते पर हमेशा की तरह कोई चिट्ठी नहीं आई है...

और यहीं गनेशी की आँख खुल जाती है। वह बरगद के पास वाले चबूतरे पर औंधा पड़ा है। उसे लगता है जैसे उसका समय जमीन के मुँह में काँटे सा धँसा है। अधजले मुर्दे-सा दिन अभी बाकी है। वह खुद को एक बहुत बूढ़े पेड़-सा महसूस करता है, दर्द कर रहे हों जिसके हाथ-पैर। उसे अपना सपना याद आता है। उसे लगता है जैसे पकने से पहले ही सड़ना शुरू कर दिया हो उसके फल ने। जैसे उसके कई बीघे खेत में मुट्ठी भर धान भी नहीं हो पाया हो। उसे अपना जीवन शहद के खाली छत्ते-सा लगने लगता है। उसके सूने अंतस में सूखे बीज-सा उसका उदास अकेलापन बजने लगता है। और वह अपनी स्थिति से आजाद होने के लिए छटपटाने लगता है।

आखिर सिर पर गमछा लपेट कर वह अपनी साइकिल उठाता है और राह चलते कुत्तों का हाल-चाल पूछता हुआ आगे बढ़ जाता है-अपनी उस पत्नी के बारे में सोचता हुआ जो उसके जीवन में नहीं होकर भी है और होते हुए भी नहीं है...

आपने नोट किया होगा कि इस कहानी की शुरुआत कहानी के बीच तक चली आई है। इसलिए कहानी का बीच कहानी के अंत में आ गया है। कहानी का अंत अभी लिखा ही नहीं गया। इसलिए वह अंत फिर कभी।

□ □

सी/ओ श्री एच. बी. सिन्हा  
५१७४, श्यामलाल बिल्डिंग,  
बसंत रोड, नई दिल्ली-११००५५

## हत्भाग्य

(१)

उस साल श्याम धार्मिक स्थलों पर छुट्टियाँ मनाने अपनी पत्नी शुकी के साथ निकला था। वे पहले अमृतसर, पठानकोट, बैजनाथ, वैष्णव देवी और फिर तिरुपति आ पहुँचे थे। यहाँ से रामेश्वरम, मदुरै व ऊँटी होते हुए उन्हें अपने घर मुंबई पहुँचना था। जम्मू से चलते समय शुकी की तबीयत मार्ग में खराब हो गई थी। अतः अब दिन भर के लिए एक छोटे से कमरे की व्यवस्था करना उसकी मजबूरी बन गई थी। शुकी को विश्रामालय में बिठाकर वह कमरे की तलाश में यहाँ-वहाँ भटकता रहा किंतु उसकी सारी मेहनत बेकार ही रही समस्त श्रम व्यर्थ रहा। निरीह नेत्रों से वह उस कतार को देखने लगा जो इतनी विशाल थी कि नंबर लगने में दस घंटे अवश्य लगते, जबकि उसे उसी रोज रात की रेल से मद्रास के लिए रवाना होना था। मानसिक द्वंद्व की स्थिति में उसे एक ऐसी भी कतार दिखाई दी, जहाँ वृद्ध, विकलांग एवं रोगी खड़े थे, जिन्हें तुरंत ही अंदर भेजा जा रहा था। ऐसे में श्याम क्या कर सकता था? वह शुकी के पास लौट आया और सारी स्थितियों को बता दिया।

अचानक श्याम की दृष्टि एक दीन महिला पर ठहर गई। वह करीब पचास-पचपन साल की थी। तिरुपति के लिए भक्ति और समर्पण की भावना उसे यहाँ खींच लाई थी। शायद बालाजी की कृपा उसकी गरीबी हर ले; शायद संकटमोचन उसे भी संकटों से मुक्त कर दें। अपने इसी विश्वास के साथ वह उनका दर्शन करने यहाँ पहुँची थी। वह श्याम से ठीक तीन-चार हाथ की दूरी पर बैठी थी। तभी लगभग २६-२७ वर्ष का व्यक्ति अपने दाहिने हाथ से दाहिने पैर को सहारा देकर लंगड़ाता हुआ, बाएँ हाथ में चाय की प्याली लिए अपनी माँ को देने के लिए आया। माँ को चाय की प्याली थमाकर वह जैसे ही लंगड़ाता हुआ पुनः भीड़ में खो गया। उसे देखते ही श्याम की आँखों में उम्मीद की किरण चमक उठी। वह उसके पीछे चल पड़ा।

(२)

“भाई साहब क्या आप मेरी मदद करेंगे?” युवक के कंधे पर हल्का हाथ रखकर श्याम बोला।

युवक ने मुड़कर उसकी ओर देखा और पूछ लिया-“मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?” जैसे उसे यह जानकर अच्छा लगा कि कोई उससे सहायता की याचना कर रहा है। कोई उसे दया की दृष्टि से देखता है तो उसके हृदय में बरछी सी धँस जाती है... पर यहाँ बात उल्टी है... उस अपाहिज के आगे कोई सहायता की याचना कर रहा है। वह मन ही मन सोच रहा था कि इसे भला मुझसे क्या सहायता मिल सकती है?

श्याम ने सारी बातें स्पष्ट की, “देखिए, मैं अपनी पत्नी के साथ पहली बार यहाँ आया हूँ। रास्ते में मेरी पत्नी बीमार हो गई है। हमें रहने के लिए कमरा नहीं मिल रहा है। अगर आप लाइन में खड़े हो जाएँ तो आपको बिना लाइन के ही एक कमरा अलॉट हो जाएगा, जो भी किराया और डिपॉजिट होगा मैं दे दूँगा। आप भी हमारे साथ उसी में रह लेना।” उसकी बातों में कितना स्वार्थ छिपा था वह भलीभाँति जानता था।

“ठीक है, मैं अपनी माँ से पूछकर आता हूँ।” इतना कहकर वह मुड़ा और अपनी लाचार चाल से उस ओर आगे बढ़ गया जहाँ उसकी माँ बैठी थी। श्याम भी उसके पीछे-पीछे चलने लगा। वह सोच रहा था-“कैसी बिडंबना है? जिनके पास दोनों पैर सलामत हैं वे कहीं जाने के लिए आधुनिक साधनों का प्रयोग करते हैं, हवाई सैर भी कर लेते हैं, पर यह...?” उसके भीतर एक काँटा-सा चुभा, टीस-सी उठी किंतु निहित निजी स्वार्थ ने औषधि का कार्य किया। श्याम की दृष्टि उस अपाहिज पर टिकी थी। वह अपनी माँ से कन्नड़ भाषा में कुछ कह रहा था। माँ के चेहरे पर प्रसन्नता की आभा फैल गई। यह देखकर... इसके पहले कि वह आता श्याम ही वहाँ पहुँच गया। दोनों आगे चल पड़े।

(३)

श्याम ने उस युवक से पूछा, “तुम्हारा नाम?”

“श्रीनिवासन।” उसका संक्षिप्त जवाब था।

“तुम क्या करते हो?”

“मिट्टी की मूर्तियाँ बनाता हूँ।”

“कितना कमा लेते हो?”

“करीब ५०-६० रुपए रोज के और क्या?”

“घर में कौन-कौन है?”

“माँ है, बहन है, जीजा जी हैं, दो भाँजे हैं। वे लोग भी आ रहे हैं, हम यहीं मिलने वाले हैं।”

“अच्छा ! यह तो अच्छी बात है।”

श्रीनिवासन विकलांगों की पंक्ति तक पहुँचकर पहले नंबर पर खड़ा हो गया। ३०० रुपए डिपॉजिट तथा ५० रुपए किराया देकर जब दोनों वापस आए तब तक श्रीनिवासन की बहन, जीजा जी व दोनों भाँजे आ चुके थे। ये इस देवता के गरीब श्रद्धालु थे। इन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो इस सदी में ईश्वर पर आस्था रखनेवालों में इनकी संख्या अधिक है। शुकी और श्याम के साथ वे सभी बड़ी कोशिशों से प्राप्त उस कमरे में चले गए। एक ओर शुकी और श्याम के सामान थे और दूसरी ओर श्रीनिवासन के परिवार के। एक चाबी श्याम ने अपने पास रखी और दूसरी श्रीनिवासन को दे दी।

(४)

श्रीनिवासन अपनी माँ और बहन के साथ अलग कतार में लग गया, उसके जीजा व भाँजे अलग कतार में तथा शुकी और श्याम ने चुपचाप छः सौ रुपए देकर आधे घंटे में दर्शन पा लिया। रिश्वत एक विभाजक रेखा का कार्य करती है। आम और खास की विभाजक रेखा। रिश्वत देनेवाला विशेष हो जाता है, न देनेवाला सामान्य। विशेष भक्तों से ईश्वर भी रिश्वत लेकर दर्शन देने में विलंब नहीं करते।

शुकी और श्याम श्रद्धालुओं की उस विशाल दर्शनीय कतार से मुक्त होकर जल्दी ही आ चुके थे। बहुत देर तक आसपास के क्षेत्र का भ्रमण-निरीक्षण कर चुकने के बाद करीब शाम के चार बजे कमरे के पास पहुँचे। देखा, श्रीनिवासन अपनी माँ और बहन के साथ कमरे के बाहर खड़ा था। उनके चेहरे पर उभरी चिंता की रेखा को भाँपते श्याम को देर न लगी।

“क्या बात है? तुम लोग कमरे में नहीं गए। मैंने चाबी दी थी न!”

“हाँ, वह तो जीजा जी के पास है। वे और भाँजे अब तक नहीं आए।”

“अच्छा! कोई बात नहीं, आते ही होंगे आप लोग अंदर चलो।” श्याम ने ताला खोलते हुए कहा।

सभी अंदर बैठे थे। चिंता के मारे श्रीनिवासन की माँ और उसकी बहन के चेहरे से हवाइयाँ उड़ रही थी। यह देखकर श्याम ने श्रीनिवासन से पूछा, “क्या बात हुई? माँ इतनी क्यों परेशान है?”

“वो जीजा जी और भाँजे अब तक नहीं आए न इसलिए।”

“तो आ जाएँगे। इसमें घबराने की क्या बात है?”

“नहीं, बात यह है कि दर्शन के समय अंदर कुछ भगदड़ मच गई थी। इसीलिए चिंता हो

रही है। दर्शन लगभग तीन घंटे में हो जाना चाहिए था।”

“चिंता न करो, शायद दर्शन करने के बाद कहीं घूमने निकल गए हों।?”

“भगवान करे तुम्हारी बात सच हो।”

लेकिन उनकी चिंता समय के साथ बढ़ती ही जा रही थी। श्रीनिवासन की बहन का धैर्य टूट गया। वह आर्द्र स्वर में प्रार्थना करने लगी।

“हे भगवान क्या हम इसलिए यहाँ आए थे? मेरे पति और बच्चे कहाँ हैं? तू इतना क्रूर नहीं हो सकता। हे देवा ! दया कर ! उन्हें भेज दे !”

शुकी से उसका विलाप देखा न गया। वह उसके पास जाकर बोली, “मन इतना छोटा करने की जरूरत नहीं है। सब ठीक हो जाएगा।”

श्रीनिवासन की माँ अवाक थी। उनकी अनुभवी आँखें न जाने क्या कह रहीं थी? शायद ‘हे ईश्वर यह मेरे जीवन में कौन-सा दुर्भाग्य पीछे लग गया है? पहले पति था तो चिराग हुआ, वह भी अपाहिज ! उसने ढाँढ़स बँधाया पर अधिक दिनों तक साथ न दे सका। चला गया। किसी तरह पाल-पोस कर बच्चों को बढ़ाया। बेटी की शादी। जीवन कुछ सामान्य होने को हुआ तो... यह कैसी आशंका घरे बैठी है? कहीं बेटी के जीवन में भी मेरे जीवन की पुनरावृत्ति तो नहीं हो रही?’ श्रीनिवासन ने अपनी हथेलियों में सिर लिए बैठे-बैठे कहा, “मैं क्या करूँ ?”

“चलो...”

श्रीनिवासन बदहवास होकर तेजी से चल पड़ा। श्याम उसके पीछे। श्याम की गति में तीव्रता नहीं थी और श्रीनिवासन हवा से बातें करने की असफल कोशिश कर रहा था। जहाँ जाना था उसकी दूरी लगभग दो सौ मीटर रही होगी। श्रीनिवासन की बदहवासी एक नई विपत्ति का कारण बनी। एक काँच का बड़ा सा टुकड़ा उसके उस पैर को चीर गया जो स्वस्थ था। अपने पैर की असह्य पीड़ा लिए वह वहीं गिर पड़ा। यह सब इतनी तेजी से हुआ कि श्याम कुछ भी न कर सका।

(५)

साँस टूट जाती है पर आस नहीं टूटती। किसी तरह वे अनाउंसर के निकट पहुँचकर श्रीनिवासन ने अपनी समस्या बता दी। अनाउंसर बार-बार कह रहा था, “श्रीनिवासन के जीजा रविचंद्रन और भाँजे मोट्टी तथा सुंदरन, जहाँ कहीं भी हों, अनाउंसमेंट कार्यालय में संपर्क करें।”

इस कार्यालय में भी अफरा-तफरी मची हुई थी। बहुत लोग थे जो अपनों से बिछुड़ गए थे। वे बारी-बारी सभी के लिए इसी प्रकार अनाउंस करते जा रहे थे। श्याम बार-बार घड़ी देख रहा

था। इंतजार करते-करते आठ बज चुके थे। उसके मद्रास के लिए रवाना होने का समय करीब आता जा रहा था। अब तक रविचंद्रन अपने बेटों के साथ नहीं लौटा था। श्रीनिवासन आशंका और विश्वास के थपेड़ों को झेलता हुआ उनका रास्ता देख रहा था। उस निरीह को असहाय अवस्था में छोड़कर जाना श्याम के लिए दुष्कर हो रहा था। व्यक्ति परिस्थितियों से तो जैसे-तैसे लड़ सकता है पर नियति से नहीं? यह वही श्याम था जिसने अपनी मुश्किल आसान करने के लिए लाचार श्रीनिवासन को अपना साधन बना लिया किंतु आड़े वक्त में अब वह उसकी कोई सहायता नहीं कर पा रहा था। वह चाहकर भी रुक नहीं सकता था। श्याम का मन निष्ठुर काल सा कठोर हो गया था। इस कठोरता को कोई भी आँसू तरल नहीं कर सकता। अपनी इच्छाओं का गला दबाकर श्याम ने श्रीनिवासन से कहा, “चलो श्री, चलकर देखते हैं, शायद वे लोग वहाँ आ गए हों।”

“नहीं, मैं यहीं रहूँगा” कुछ रुककर, अधीर रूँआसे स्वर में वह बोला, “मैं अपने जीजा और भाँजे को लिए बिना नहीं जाऊँगा” वैसे भी चल नहीं पा रहा हूँ। उसके दोनों पैर खराब हो चुके थे। वह अब चलने में पूर्णतः असमर्थ था। श्याम ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा – “ठीक है मैं जाकर देख आता हूँ, यदि वे आ गए होंगे तो मैं तुम्हें आकर बताऊँगा।”

(६)

श्याम श्रीनिवासन की विकट परिस्थितियों से पिंड छुड़ाकर चैन की साँस ले ही रहा था कि अंतर चेतना की नैतिक भावना पुनर्जीवित हो उठी – वह कड़ककर बोली – ‘मानवता से गिरा हुआ स्वार्थी जीव ! यह तू क्या कर रहा है? निर्लज्ज आवश्यकता पड़ने पर तूने उसका लाभ ले लिया, मित्रता कर ली और अब अपने धर्म से विमुख होकर जा रहा है? इस नैतिक भावना की भावुकता को उसके बुद्धि के तर्क ने काटा, “मैं क्या करूँ? शुकी की तबीयत भी ठीक नहीं है। उसे भी देख-रेख की जरूरत है। क्या दो मित्रों के लिए दो अलग-अलग धर्मों की आवश्यकता है? तुम केवल कोरी भावुकता हो ! तुम्हें अधिकार है मुझे स्वार्थी कहने का... पर तुम क्या जानो मैं क्या हूँ? निष्ठुर नियति का एक अंश, सब कुछ त्याग कर निर्ममता पूर्वक आगे बढ़ जाना जिसका धर्म है।”

अपने अंतर्द्वंद्व को लिए श्याम बड़ी तेजी से मुड़ा ही था कि उसने देखा, एक हुजूम बाहर की ओर मुख्य मार्ग पर जा रहा था। उनके कंधों पर कई शव थे, जो मंदिर की भगदड़ में कुचल गए थे। लोग इनकी आत्मा को पुण्यात्मा और मोक्षगामी कह कर, – ‘राम नाम सत्य है’ का नारा लगा रहे थे।

(७)

“श्री तुम ये पैसे रख लो, काम आएँगे।”

“नहीं ! मैं पैसे नहीं लूँगा।” उसका स्वाभिमान श्याम के अहं से टकराया।

“अरे भाई! जब घर पहुँचना तो लौटा देना।” बुद्धि का अहं चेतना की नैतिकता के आगे तिल भर भी झुकने को तैयार न था। श्याम ने पाँच सौ रुपए के दो नोट निकाले और उसे दे दिए। रूम की कुँजी उसे देते हुए हिदायत भी दी, “तुम्हारे जीजा आ जाएँ तो उनसे कुँजी लेकर, ताला कुँजी जमा कर देना और डिपॉजिट के तीन सौ रुपए ले लेना।”

शुकी और श्याम खिन्न मन से रास्ता पार कर उस ओर चले गए जहाँ रेनिगुंटा स्टेशन के लिए जीप मिलती है। अब दोनों एक जीप में बैठ चुके थे। शुकी को उनकी याद आयी, “श्याम, इस अपाहिज के साथ ऐसा नहीं होना चाहिए था।” वह आर्द स्वर में बोली।

“मैं और कितना करूँ, जितना कर सकता था किया।” जीप थोड़ा आगे बढ़ी और अन्य मुसाफिरों को बिठाने के लिए वहीं पचास मीटर से टर्न मारने लगी। इसी बीच श्याम की दृष्टि उन पर पड़ी...

जीवन कभी-कभी कितना विवश, कितना लाचार और कितना मजबूर हो जाता है ? माँ पथराई आँखें लिए बेटी को सहारा दिए बैठी थी। बेटी सिर पीट-पीट कर रोए जा रही थीं। श्रीनिवासन अनाउंसमेंट के दफ्तर की ओर घिसटता जा रहा था। वह अपनी बेवसी के चारों ओर एक ही अनुगूँज से घिरा था, “मैं अपने जीजा और भाँजों के लिए बिना नहीं जाऊँगा।”

पर श्याम को पता था कि वे लोग अब...

जीप सवारियों से भर चुकी थी। किसी एक श्रद्धालु ने उत्साह के साथ गर्जना की, “तिरुपति बालाजी महाराज की ?” सभी ने एक साथ घोष किया, “जय।”

□ □

विशाल डेरी  
कडेश्वरी मंदिर मार्ग,  
माऊंट मेरी, बाँद्रा (प.),  
मुंबई-४०००५०

● सीताराम गुप्ता

### मन के स्तर पर स्वीकृति ही वास्तविक अनुकूलन है

जो प्राणी स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं ढाल पाते उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यहाँ परिस्थितियों से तात्पर्य है भौगोलिक परिस्थितियाँ। परिवर्तन सृष्टि का नियम है जो सारे ब्रह्मांड में विद्यमान है। हमारी पृथ्वी भी इस नियम से अछूती नहीं है। इस धरती पर इसके अस्तित्व से आज तक न जाने कितने परिवर्तन आए हैं और आते रहेंगे। इसी धरती पर एक जमाने में डायनोसॉर जैसे विशालकाय सरीसृप विचरण करते थे जिनके चलन से धरती कँपती थी। ऐसे विशालकाय जीव भी इस धरती से लुप्त हो गए। उनके लुप्त होने का कारण उनका अँधाधुंध शिकार नहीं अपितु धरती पर हुआ परिवर्तन है। धरती पर हुए जलवायु संबंधी परिवर्तनों के अनुसार वे स्वयं को बदल नहीं पाए और समाप्त हो गए। डार्विन का सिद्धांत भी यही सिद्ध करता है कि इस धरती पर जो भी प्राणी अपने आपको इसकी जलवायु और अन्य परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेगा वही बच पाएगा। ‘‘सर्वाइवल ऑफ द फिट्टेस्ट’’। जो फिट होगा बचा रहेगा अन्यथा नष्ट हो जाएगा।

मनुष्य के संबंध में भी यह बात बिल्कुल ठीक बैठती है। यदि मनुष्य भी अपने परिवेश के अनुसार ढल नहीं पाएगा, तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाएगा तो उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाएगा और यदि बचा भी रहा तो उसका जीवन दूभर हो जाएगा। यदि अपने उस स्थान, राज्य अथवा राष्ट्र को जहाँ आप रह रहे हैं मन के स्तर पर स्वीकार नहीं किया तो कभी भी आपके विरुद्ध विद्रोह का झंडा बुलंद हो सकता है। इतिहास इस बात का गवाह है। यहाँ मुसलमान भी आए और डच, पुर्तगाली, फ्राँसीसी और अंग्रेज भी आए लेकिन सबसे अधिक विद्रोह अंग्रेजों का ही क्यों हुआ और उन्हें खदेड़ कर बाहर क्यों कर दिया गया? जहाँ तक आम आदमी पर अत्याचार की बात है किसी ने भी कसर नहीं छोड़ी। मुगलों को भारतभूमि पर सहजता से स्वीकार क्यों किया गया और अंग्रेजों के प्रति रोष क्यों बढ़ता गया? मुगलों की स्वीकृति का प्रमुख कारण है उनका भारतीय संस्कृति में रच-बस जाना। यहाँ के रीति-रिवाज अपनाना और विवाह संबंध कायम करना। अंग्रेजों को स्वीकार न करने का कारण है उनका भारतीय संस्कृति से तादात्म्य का अभाव। इसके विपरीत कुछ अंग्रेज जिन्होंने भारतभूमि को अपनी कर्मभूमि के साथ-साथ मातृभूमि भी स्वीकार कर लिया आज भी हमारी श्रद्धा और प्रेम के पात्र हैं।

### मनुष्य कैसे स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल ढाले ?

मनुष्य का अनुकूलन मात्र भौगोलिक परिस्थितियों का अनुकूल नहीं है। अत्यंत विषम भौगोलिक परिस्थितियों में भी मनुष्य अपना बचाव कर लेता है। मनुष्य अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों के विकासक्रम से गुजरा है। हर व्यक्ति तथा हर समाज की एक सांस्कृतिक विरासत है जो उसके परिवेश का निर्माण करती है। मनुष्य का यह परिवेश सदा से यूनिवर्सल या वैश्विक नहीं रहा है। यह काल-सापेक्ष होने के साथ-साथ स्थान सापेक्ष भी रहा है। आज इन परिस्थितियों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। स्थान-सापेक्षता की सीमाएँ तेजी से बदल रही हैं। इस तेजी से परिवर्तित हो रहे स्थान-सापेक्ष के कारण मनुष्य का अनुकूलन यही है कि वह जहाँ भी जाए और स्थायी या अस्थायी तौर पर निवास करे उस स्थान की विशेषताओं को समझकर उन्हें स्वीकार करे तथा आत्मसात करे।

### जैसा देस वैसा भेस :

एक कहावत है कि ‘‘जैसा देस वैसा भेस’’ अर्थात् ‘‘ह्वाइल इन रोम डू एज द रोमैस डू’। हम अवसरानुकूल कपड़े पहनते हैं, अवसरानुकूल भोजन करते हैं तथा अवसरानुकूल ही प्रत्येक व्यवहार करते हैं। यही अवसरानुकूलता हमारे परिवेश के अनुरूप होने का प्रमाण है। लेकिन यदि हमारा परिवेश बदलता है या हम किन्हीं कारणों से परिवेश बदलने को विवश हैं तो ऐसी स्थिति में क्या उपाय है? यहाँ आवश्यकता है परिवेशानुकूलता की। स्थान या परिस्थिति विशेष के अनुसार जीवनशैली में बदलाव की।

### वास्तविक अनुकूल क्या है?

मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर अथवा एक परिवेश से दूसरे परिवेश में अंतरण करता ही रहता है। व्यक्ति जहाँ जाता है वहाँ का होकर रह जाता है, वहाँ की भाषा बोली, भोजन-वस्त्र; साहित्य-कला-संस्कृति सब अपना लेता है। यह एक परिवर्तन ही है। यह परिवर्तन ही अनुकूलन है। लेकिन हर व्यक्ति के लिए इतना बदलना संभव नहीं तो फिर उसका अनुकूलन कैसे हो? जब व्यक्ति कहीं अन्यत्र जाता है और वहाँ के परिवेश के अनुरूप व्यवहार करता है तो यह उसका बाह्य परिवर्तन हुआ लेकिन जब वह उस परिवेश को स्वीकार कर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो यह उसका आंतरिक परिवर्तन है जो मन के स्तर पर होता है। यदि मन में स्वीकृति नहीं है तो बाह्य परिवर्तन स्वीकार कर लेने के बावजूद एक द्वंद्व की स्थिति निरंतर बनी रहती है और द्वंद्व ही सभी समस्याओं का मूल है। निर्द्वंद्व होना ही वास्तविक अनुकूलन है।

कुछ लोग काम-धंधे के सिलसिले में एक जगह से दूसरी जगह जाते रहते हैं। रोज नये-नये स्थानों को देखने और नये-नये लोगों से परिचित होने का मौका मिलता है। इनमें से कुछ लोग ऐसे होते हैं जो नये स्थान तथा नये लोगों की विशेषताओं का ही गुणगान करते रहते हैं जबकि कुछ ऐसे भी हैं जो जहाँ भी जाते हैं उस जगह और वहाँ के लोगों की कमियाँ और कमजोरियाँ ही गिनवाते रहते हैं। पहले प्रकार के व्यक्ति परिवर्तन को स्वीकार करने वाले होते हैं और शीघ्र

नये परिवेश के अनुसार ढल जाते हैं; अनुकूलित हो जाते हैं जबकि दूसरे प्रकार के व्यक्ति नये परिवेश या परिवर्तन के अनुसार अपने को ढाल न पाने के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करने को बाध्य होते हैं।

### कई लोग अनुकूलन के बावजूद अलग क्यों दिखलाई पड़ते हैं?

कई लोग कई पीढ़ियों से अपने मूल स्थान से अन्यत्र कहीं रह रहे हैं। उनकी भाषा-बोली, रहन-सहन का तरीका खान-पान तथा दूसरी अनेक चीजें बदल गई हैं लेकिन वे आज भी वहाँ के लोगों से अलग-थलग दिखलाई पड़ते हैं। स्थानीय लोगों से एकाकार नहीं हो पाते। इसका कारण है उनका परिवर्तन मात्र बाह्य स्तर तक सीमित रहा है और ये परिवर्तन भी उनकी विवशता ही थी। उन्होंने मन के स्तर पर अपने को परिवर्तित नहीं किया। परिवर्तित होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते।

### वास्तविक अनुकूलन का उपाय:

द्वंद्व की समाप्ति सबसे महत्वपूर्ण उपचार है। परिवर्तन को मन से स्वीकार कीजिए। जिस जगह रह रहे हैं, जिस आबोहवा का सेवन कर रहे हैं, जिस स्थान का अन्न-जल ग्रहण कर रहे हैं, जिस स्थान के नैसर्गिक सौंदर्य अथवा आर्थिक सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं, जिस स्थान के कारण आपकी रोजी-रोटी का जुगाड़ हो रहा है उसके प्रति हमेशा कृतज्ञता की भावना रहे। देश में कहीं भी रह रहे हैं तो राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत रहें। विदेशों में हैं तो राष्ट्रीयता से भी ऊपर उठकर सिर्फ मानवता की भावना को वहन करें। जिस स्थान पर रहें उसके प्रति पूर्ण समर्पण और आस्था से रहें। उसे मातृभूमि से बढ़कर सम्मान दें। जन्म देनेवाली माँ से पालन-पोषण करने वाली माँ का स्थान कभी कम नहीं होता। यदि तुम्हारी कर्मभूमि तुम्हारी वजह से चर्चित होती है तो क्या तुम्हारी मातृभूमि का गौरव नहीं बढ़ेगा?

जहाँ हम रहते हैं वहाँ के सामाजिक जीवन की उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए। इसी प्रकार जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में पर्याप्त स्वीकृति ही हमें उस परिवेश के प्रति पूर्ण अनुकूलता प्रदान करती है। भारतभूमि तो इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। यहाँ विश्व के हर कोने से हर धर्म और जाति के लोग आए और पूर्ण भारतीय हो गए। पारसी समुदाय के लोग इसका अच्छा उदाहरण हैं। टाटा जैसे औद्योगिक घरानों ने इस समाज से जितना प्राप्त किया उससे कहीं अधिक उसे लौटाया। यही उनका पूर्ण अनुकूलन है। आज ब्रिटेन और अमेरिका में अनेक भारतीय आर्थिक दृष्टि से बहुत उच्च स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इसका कारण मात्र उनकी योग्यता और अध्यवसाय नहीं अपितु उन देशों के प्रति पूर्ण समर्पण व वहाँ की व्यवस्था के प्रति पूर्ण स्वीकृति भी है तथा साथ ही उन देशों की अपने देश के नागरिक के रूप में उनकी पूर्ण सुरक्षा तथा सहयोग भी। यह तभी संभव है जब परिवेश के प्रति अपेक्षित सामंजस्य मन के स्तर पर हो केवल बाहरी तौर पर नहीं।

□□

ए. डी. १०६-सी, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४.

*With Best Compliments from :*

## MEGA ACE Consultancy (India) Ltd.

68-B, Mittal Tower,  
Nariman Point,  
Mumbai-400021

E-Mail:PKUMAR@MEGA-ACE.COM

Phone : +91-22-22812298

Fax : +91-22-22812305

*With Best Compliments from :*

**New Modern  
Lunch & Beer Bar**

16, Sai Kunj  
Dr. Ambedkar Road  
Dadar (West),  
Mumbai-400014.

*With Best Compliments from :*

**Jagir Singh**

4, Bela Building  
Chheda Nagar  
Mumbai-400089.

*With Best Compliments from :*

**A. K. Rao**

SR. Fund Manager  
SBI Funds Management Pvt. Ltd.  
191, MakerTower 'E'; Cuffe Parade  
Mumbai-400005.  
Tel. : +91-22-22180221 Ext. 373

*With Best Compliments from :*

**SAI BABA  
AGENCIES**

280/2, Block No.3  
Market Yard  
Panvel-410206



*With Best Compliments from :*

**Bombay Gas Supply  
Services Pvt. Ltd.**

L. B. S. Marg  
Vikhroli  
Mumbai.

*With Best Compliments from :*

**Vijay Trading Corporation**  
(Transporters & Fleet Owners)

Sector-17, Shop No.1,  
Opposite : State Bank of India  
Ulhasnagar-421003. (M.S.)

*With Best Compliments from :*

## **S. R. ENTERPRISES**

*Suppliers of:  
(INOX) Industrial Gases  
O<sub>2</sub> /N<sub>2</sub> /ARGON/DIA TROLIES*

7-A/II Fl. Manohar Mahal  
Thane (East), Pin : 400603.  
Phone : 25426914

*With Best Compliments from :*

## **Mother India Transport Co.**

*(Transporters & Fleet Owners)*

Premier House, Plot No.6  
Shop No7, Sector 19-C  
Vashi, Navi Mumbai  
Tel. : 27651574, 27897566  
Fax : 27800475

*With Best Compliments from :*

## **New Anil Transport Service**

Peninsula Park  
Near Sapana Talkies  
Ulhasnagar-421303 (M.S.)

## **कविताएँ और गज़लें**

---

- अरुणा दुबलिश

### **१. आधी खुली खिड़की**

आधी खुली खिड़की  
घर के भीतर के अंधेरे  
और बाहर की जगमगाहट में  
एक रिश्ता कायम करती है

शून्य से शोर तक  
आकाश के छोर तक  
जहाँ भी जाती है दृष्टि  
यही आधी खुली खिड़की  
उतार लाती है बाहर की यह दुनिया  
भीतर...

मेरे आँगन के  
भरे पूरे पेड़ पर बसा  
चिड़ियों का बसेरा  
ततैयों के छत्ते  
बंदर की चिल्लपों  
बिल्ली की ताक  
कूद फाँद करते बच्चे  
सूरज की मुस्कान  
तारों की आँखमिचौली  
चंदा की खिलखिलाहट  
सब देखना संभव है  
इस खिड़की से

पर नहीं दिखता  
आतंकवाद से नष्ट होते घर  
मुझ्झाति चेहरे और  
आतंकवाद को मिटाने की कसम खाता  
अनाथ बच्चा

बचाकर रखना चाहती हूँ  
एक संवेदना  
एक आसमान  
एक घरौंदा  
एक मुस्कान  
बच्चे का बचपन  
बूढ़ी आँखों का सपना  
रसभरा बादल  
पेड़ों का हरापन

नहीं जाना चाहती इस अधखुली  
खिड़की के बाहर  
भीड़ में खोना नहीं चाहती  
पर मन में छुपे बच्चे को  
देना चाहती हूँ एक  
भरा पूरा आकाश  
खेल का एक मैदान  
हरी भरी धरती  
रंगों का फैलाव  
जो नहीं चाहता अधखुली  
खिड़की का  
अधूरा संसार

□ □

## ● स्वर्ण कौर सैनी

### जीवन में...

जीवन में आते रहते हैं,  
हँसने के पल रोने के पल,  
हँसते हँसते बढ़ता चल,  
रोने की तू परवाह न कर,  
जो हँसते हँसते जीएगा,  
अश्रु घोलकर पीएगा,  
हो जाएगा वो सदा अमर।

हँसता जीवन फुलवारी है,  
रो रोकर जीना भारी है,  
सोच समझकर ये मानव  
चुन ले जो चुनना चाहे तू।

रोना तो जीवन हरता है,  
हँसने से जीवन खिलता है,  
विवेकशील बन निश्चय कर  
हो जाए तेरा जन्म सफल।

□ □

बेला बिल्डिंग,  
छेड़ा नगर, मुंबई.

● डॉ. आशा पाण्डेय

## राजमार्ग

मैं किस राजमार्ग पर बढ़ रही हूँ आगे !  
किस राजभवन तक जायेगी यह !  
राजभवन से निकलकर  
सरपट दौड़ने वाले रथ  
कहीं कुचल न दें मुझे !  
मेरे गाँव की सँकरी गलियाँ  
मुझे राजमार्ग पर आगे बढ़ता देख  
थरथरा रही हैं।  
आवाज लगा रही हैं कि मैं लौट आऊँ  
मैं जितना आगे बढ़ रही हूँ  
आवाज उतनी ही तेज आ रही है।  
नजरे-मुड़ मुड़कर देख रही हैं गलियों को  
पर कदम राजमार्ग से चिपक कर सरकते ही जा रहे हैं आगे  
इस राजमार्ग का सम्मोहन तो देखो !  
पर, बड़ा मुश्किल है गलियों की आवाज को  
गाँव की गलियों में लौट जाना।

□ □

५ योगी राज शिल्प,  
स्पेशल आई. जी. बंगला के सामने, कैम्प,  
अमरावती (महाराष्ट्र)

● देवेन्द्र कुमार मिश्रा

## संकल्प

देवता तो चाहते ही हैं  
कि मनुष्य गिड़गिड़ाता रहे  
भय खाता रहे  
भीख माँगता रहे  
चढ़ावा और भोग लगाकर  
उनकी स्तुति करता रहे।  
देवता नहीं चाहते कि  
मनुष्य उनसे आगे बढ़ सके  
सो जब-जब कोई मनुष्य  
इंद्रियाँ साधकर करता है तप  
देवता भयभीत होकर  
उर्वशी, मेनका, रम्भा भेज देते हैं  
उनका तप नष्ट करने के लिए।  
देवताओं के पास शक्ति है, मारक शस्त्र है  
हवा वायु, अग्नि, जल रूपी अमाध शस्त्रों की  
देवताओं के हाथों में मनुष्यों का जीवन है  
फिर भी देवता डरते हैं मनुष्यों से  
और डरा हुआ व्यक्ति ही  
डराता है। अहंकारी ही अपनी पूजा से प्रसन्न होता है।  
देवताओं के पास सुख सुविधायें  
संपन्नता और भाँति-भाँति के भोग है  
स्वर्ग उनके बाप की जागीर है  
वे भूल गये कि मनुष्य चाहे तो ऐसे  
कई स्वर्ग निर्मित कर सकता है।

डरकर साम दाम दंड भेद  
 तोड़ते हराते हैं मनुष्य को  
 अधिकतर तो टूट जाते हैं  
 लेकिन कुछ हिम्मती अपने पौरुष से  
 धरती को स्वर्ग बना लेते हैं  
 कुछ सीधे परमात्मा तक संपर्क कर लेते हैं  
 बेचारे देवता कितने निरीह हैं  
 मनुष्य की संकल्प शक्ति के समक्ष  
 हे देवों हमें कुछ नहीं चाहिए तुमसे  
 तुम अपने कर्मों को ईमानदारी से करो  
 अग्नि, जल, वायु की शक्तियों का  
 दुरुपयोग मत करो  
 हमें छोड़ो मत। जरूरत से  
 ज्यादा डर मनुष्य को  
 निर्भय बना देता है  
 और अभयी मनुष्य  
 के आगे फिर किसी  
 की नहीं चलती।  
 मुफ्त में मनुष्यों का अमूल्य समय  
 और पसीने की कमाई से  
 तुम जप-तप हवन यज्ञ चढ़ावा  
 तो ले ही रहे हो  
 लेते रहो  
 लेकिन ज्यादा छेड़खानी मत करना  
 एक मनुष्य का संकल्प  
 उसका सत्य  
 बुद्ध-महावीर पैदा कर देता है  
 और स्वयं परमात्मा भी  
 मनुष्यों की सहायता के लिए आ जाते हैं।

□ □

पाटनी कालोनी, भरत नगर,  
 चंदनगांव, छिंदवाड़ा (म. प्र. ४८०००१.

## ● सुशांत सुप्रिय की चार कविताएँ

### १. मासूमियत

मैंने अपनी बाल्कनी के गमले में  
 वयस्क आँखें बो दीं  
 वहाँ कोई फूल नहीं निकला  
 किंतु मेरे घर की सारी निजता  
 भंग हो गई

मैंने अपनी बाल्कनी के गमले में  
 वयस्क हाथ बो दिये  
 वहाँ कोई फूल नहीं निकला  
 किंतु मेरे घर के सारे सामान  
 चोरी होने लगे

मैंने अपनी बाल्कनी के गमले में  
 वयस्क जीभ बो दी  
 वहाँ कोई फूल नहीं निकला  
 किंतु मेरे घर की सारी शांति  
 खो गई

हार कर मैंने अपनी बाल्कनी के गमले में  
 एक शिशु मन बो दिया  
 अब वहाँ एक सलोना सूरजमुखी  
 खिला हुआ है

□

## २. गरीब दलित का रामचरितमानस

गरीब दलित के रामचरितमानस में  
ये कांड नहीं होते –

बाल कांड  
सुंदर कांड  
अयोध्या कांड  
कृष्किंधा कांड  
लंका कांड

गरीब दलित के रामचरितमानस में  
ये कांड होते हैं -

भेद-भाव कांड  
अपमान कांड  
पीड़ा कांड  
खैरलौंजी कांड  
मिर्चपुर कांड...

□

## ३. हाँ, मैं चोर हूँ

व्यस्तता की दीवार में  
संध लगा कर  
मैं कुछ बहुमूल्य पल  
चुरा लेना चाहता हूँ  
क्या पुलिस मुझे पकड़ेगी ?

बीत चुके वर्षों की  
बंद अलमारी में  
संध लगा कर  
मैं कुछ अमूल्य स्मृतियाँ  
चुरा लेना चाहता हूँ  
क्या पुलिस मुझे पकड़ेगी ?

‘हलो-हाय’ संस्कृति वाले महानगर  
के अजायबघर में  
संध लगा कर  
मैं कुछ सहज अभिवादन  
चुरा लेना चाहता हूँ  
क्या पुलिस मुझे पकड़ेगी?

□

## ४. डर

तुम डरते हो  
तेज़ाबी-बारिश से  
ओजोन-छिद्र से  
मैं डरता हूँ  
विश्वासघात के सर्प-दंशों से  
बदनीयती के रिशतों से  
तुम डरते हो  
रासायनिक हथियारों से  
परमाणु-बमों से  
मैं डरता हूँ  
चटखे ख्वाबों से  
झुलसी उम्मीदों से  
तुम डरते हो  
एड्स से  
कैंसर से  
मृत्यु से  
मैं डरता हूँ  
उन पलों से  
जब जीवित होते हुए भी  
मेरे भीतर कहीं कुछ मर जाता है

□ □

● राजेंद्र उपाध्याय की दो कविताएँ

## १. नववर्ष

कितना अच्छा रहा पिछला साल  
कि आपने सब कुछ मनमाना किया  
और एक भी मामले में फँसे नहीं  
दूसरों को फँसाते रहे  
हरेक के सामने मुँह बनाए रहे  
एक के भी सामने हँसे नहीं  
दूसरों को रूलाते हँसाते रहे।

कितना अच्छा रहा पिछला वक्त  
कि बस करते रहे बकबक  
कपड़े पहने लकड़क  
कुछ शीन काम किया  
थोड़ा काम ज्यादा आराम किया।

फाईलें सरकाते रहे आते रहे जाते रहे  
चाय पीते पिलाते रहे  
मिलते मिलाते रहे।

अपनों को बुलाते रहे  
दूसरों को कायदे कानून बताते रहें।  
सरकारी खर्चे पर विदेश गए, आए  
आए और फिर चल दिए।  
इस बरस भी आप इसी तरह आते-जाते रहे

सरकारी काम करने कराने के नाम पर कुछ न कुछ पाते रहें  
चमचों की फौज बढ़ाते रहे।

सरकारें आती-जाती रहे गिरती-गिराती रहे  
आपकी कुर्सी वही रहे, आपकी मेज वही रहे  
कायदे कानूनों के भीतर करें जो करना हो  
पिछले बरस की तरह आप फले फूले इस बरस भी  
पिछले बरस से भी अधिक मंगलमय हो आपको यह नया बरस।

□

## २. मैं सन् ३६ की दिल्ली में

ऐसे समय जब सब क्रांतिकारी कवि  
विदूषकों के हाथों पुरस्कृत हो रहे हैं  
मैं सन् ३६ की दिल्ली में जाना चाहता हूँ  
जब पहली बार प्रेमचंद जैनैत्र से मिलने दिल्ली आए थे  
और दरियागंज के एक पुराने मकान में ठहरे थे।  
मैं वहीं तंग सीढ़ियाँ चढ़कर उपन्यास सम्राट के पाँव छूना चाहता हूँ।

मैं जैनैत्र और प्रेमचंद के साथ ताँगे में बैठकर  
कुतुबमीनार जाना चाहता हूँ।  
मैं इन दोनों थके हुए बूढ़ों को कुतुबमीनार की सबसे ऊँची मंजिल पर  
ले जाकर दुनिया दिखाना चाहता हूँ।  
मैं इनसे कहूँगा तुम्हारे चढ़ने से ये मीनार छोटी नहीं होगी  
चढ़ो तुम चढ़ो इस पर  
गर्व को इसके चूर करो  
बताओ कि तुम्हारा लिखा इससे भी बड़ा है  
तुम्हारे लिखे पर कभी जंग नहीं लगेगी  
जबकि विदूषक के हाथों पुरस्कृत होने वाले क्रांतिकारी कवि की सारी रचनाएँ  
एक दिन कबाड़ी भी ले जाने से इंकार देगा।



मैं कैप्टन वात्स्यायन के साथ पूर्वोत्तर की पहाड़ियाँ  
रौंदना चाहता हूँ ट्रक में उनकी बगल में बैठकर  
मैं उनके साथ चिरगाँव जाना चाहता हूँ  
देखना चाहता हूँ राष्ट्रकवि कैसे पैर छूते हैं अपने से काफी छोटे युवा कवि के।  
मैं शमशेर के 'जस्टफिट' में काली चाय पीना चाहता हूँ  
केदार को अदालत में वकालत करते देखना चाहता हूँ  
मैं सुभद्रा के हाथ के दालचावल खाना चाहता हूँ  
मैं नागार्जुन के साथ बैलगाड़ी में बिहार के एक पिछड़े गाँव में  
कानी कुतिया के पास जाना चाहता हूँ।  
मैं बच्चन की साइकिल पर पीछे बैठकर इलाहाबाद के अमरूद खाना चाहता हूँ।

मैं सुनना चाहता हूँ टेलिफोन पर नवीन की वो आवाज  
जिसमें उन्होंने इंदिरा से कहा था  
मुझे तुमसे नहीं तुम्हारे बाप से बात करनी है।

□ □

बी-108, पंडारा रोड,  
नई दिल्ली-110003

### ● नरेश हमिलपुरकर

देश का उस दिन उद्धार होगा  
जिस दिन नेता वफादार होगा  
समझा था पढ़ लिखकर आदमी  
समझदार-इज्जतदार होगा  
लाखों में कोई एक मिलेगा  
नेक, सच्चा, ईमानदार होगा  
उसी को चाहने लगे हैं लोग  
जो ज्यादा चमकदार होगा  
एक आध किसी की भाग्य में  
कोई हमदर्द, दिलदार होगा  
डालियाँ उसी की झुकी रहेगी  
जो दरख्त फलदार होगा  
उसी को पसंद करने लगे हैं  
जो खाना बड़ा मसालेदार होगा  
जाँच परखकर घर देना  
जो भी नया किरायदार होगा  
दुनियाँ उसके सामने झुकेगी  
जो हुक्मरान ताकतदार होगा  
आदमी नहीं जो वतन का  
दुश्मन होगा, गद्दार होगा

□ □

-संपादक 'राष्ट्रीय बुलेटिन'  
हिंदी मासिक पत्रिका  
चिटगुप्ता - ५८५४१२ (कर्नाटक)

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

## श्रीमती सुनीता गुप्ता

हिंदी विभागाध्यक्ष  
एल. एस. रहेजा कॉलेज  
सांताक्रुज (पश्चिम),  
मुंबई-४०००५४

*With Best Compliments from :*

## Shyam Lata Bhatia

31, Abhilasha, 43, Pali Hill  
Bandra (West), Mumbai-400050

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

## श्रीमती सीमा मनोज सिंह

६६/१२२९, समता नगर  
कादिवली (पूर्व)  
मुंबई-४००१०१

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

## रमेश पी. दत्त

स्वामी विवेकानंद हाईस्कूल  
शिव सृष्टि, नेहरू नगर  
कुर्ला (पूर्व),  
मुंबई-४०००२४.

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

## राजबली दुबे

१, खेरवाड़ी म्युनिसिपल हिंदी स्कूल  
बांद्रा (पूर्व),  
मुंबई-४०००५१

---

*With Best Compliments from :*

**Santosh Singh**

**Thoughts Entertainment**

Samata Nagar, 66/1229,  
Kandivali (East)  
Mumbai-401101